शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

ज्येष्ठ : २४८१ ☆ वर्ष ग्यारहवाँ ☆ अंक दूसरा

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

क्रमबद्धपर्याय—प्रवचन

दूसरा भाग

प्रवचन संख्या ५

इस अंक का मूल्य आठ आना

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

१२२

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

आत्मा की महत्ता

इस जगत में आत्मा और जड़, सभी पदार्थ अनादि-अनंत है और प्रत्येक पदार्थ में प्रतिक्षण अपनी-अपनी अवस्था का रूपान्तर होता है, वह उसके स्वभाव से ही होता है। जड़ में भी प्रतिक्षण अवस्था परिवर्तित हो—ऐसी उसके स्वभाव की शक्ति है; जीव के कारण उसका कार्य हो—ऐसा नहीं होता। किन्तु अज्ञानी स्व-पर की भिन्नता को भूलकर पर के कार्य मैं करता हूँ—ऐसा अभिमान करता है। किन्तु भाई! इसमें तेरी महत्ता नहीं है, तू तो ज्ञानस्वभावी है, उस स्वभाव की महत्ता को तो लक्ष में ले। पर के कार्य से तेरी महत्ता नहीं है, किन्तु चैतन्यस्वरूप से तेरी महत्ता है। अपने चैतन्यस्वरूप की महत्ता को लक्ष में लिये बिना अपने को तुच्छ मानकर तू संसार में भटका है; अब अपने चैतन्य की प्रभुता को जान और पर के कर्तृत्व का अभिमान छोड़ तो तेरे भवभ्रमण का अन्त आ जाये।

क्रमबद्धपर्याय-प्रवचन : भाग दूसरा

इस अंक में क्रमबद्धपर्याय के अन्य पाँच प्रवचन प्रकाशित हो रहे हैं। यह क्रमबद्धपर्याय का विषय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है; प्रत्येक मुमुक्षु को इसका निर्णय करना अत्यावश्यक है। क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय अनेक प्रकार की विपरीत मान्यताओं के गोटे निकाल देता है, और सर्व पक्षों का (निश्चय-व्यवहार, उपादान-निमित्त, कर्ता-कर्म आदि का) समाधान कराता है। इस क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किये बिना जीव की पर में कर्ताबुद्धि की मिथ्यामान्यता नहीं मिटती। इसलिये परमकृपालु गुरुदेव ने मुमुक्षु जीवों पर महान करुणा करके विशिष्ट प्रवचनों द्वारा इस विषय का स्पष्टीकरण किया है। (इस अंक में प्रकाशित प्रवचनों को पूज्य गुरुदेव ने पढ़ लेने की कृपा की है।)

अनेक मुमुक्षु जीवों को प्रश्न उठता है कि हम पुरुषार्थ कैसे करें? ''मुमुक्षुओं के लिये किस प्रकार पुरुषार्थ कर्तव्य है''—वह इसमें समझाया है। इन प्रवचनों में यह बात मुख्यतया समझाई गई है कि—ज्ञायकस्वभाव के निर्णय के पुरुषार्थ द्वारा ही क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप यथार्थरूप से समझ में आता है। जो जीव, ज्ञायकस्वभाव के निर्णय का पुरुषार्थ नहीं करता, उसे क्रमबद्धपर्याय का भी निर्णय नहीं होता। इस प्रकार ज्ञानस्वभाव की ओर से प्रारम्भ करे, तभी यह बात यथार्थरूप से समझ में आ सकती है। इस प्रकार जो जीव यथार्थरूप से यह बात समझेंगे, उन्हें आत्महित का महान लाभ होगा।

आत्मा ज्ञायक है

क्रमबद्धपर्याय का विस्तार से स्पष्टीकरण

—और—

अनेकप्रकार की विपरीत कल्पनाओं का निराकरण

भाग दूसरा

समयसार गाथा ३०८ से ३११ तथा उसकी टीका पर

पूज्य गुरुदेव के प्रवचन

आत्मा के अतीन्द्रियसुख का स्पर्श करके बाहर निकलनेवाली, भेदज्ञान की झनझनाहट करती हुई और मुमुक्षुओं के हृदय को हिलाती हुई, पूज्य गुरुदेव की पावनकारी वाणी में, ''ज्ञायकसन्मुख ले जानेवाले क्रमबद्धपर्याय के प्रवचनों'' की जो अद्भुत अमृतधारा एक सप्ताह तक प्रवाहित हुई थी, वह गतांक में प्रकाशित कर चुके हैं। तत्पश्चात् मुमुक्षुओं के विशेष सद्भाग्य से दूसरी बार आश्विन शुक्ला सप्तमी से एकादशी तक ऐसी ही अमृतधारा पाँच दिन तक पुनः प्रवाहित हुई। नित्य नवीनता को धारण करती हुई वह अमृतधारा यहाँ दी जाती है।

''मैं ज्ञाता हूँ''—इसप्रकार ज्ञानसन्मुख होकर परिणमन न करके, रागादि का कर्ता होकर परिणमित होता है, वह जीव क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता नहीं है। क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता तो ज्ञायकसन्मुख रहकर रागादि को भी जानता ही है। उसे स्वभावसन्मुख परिणमन में शुद्धपर्याय ही होती जाती है।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, उसे लक्ष में लेकर तू विचार कर कि—इस ओर मैं ज्ञायक हूँ, मेरा सर्वज्ञस्वभाव है,—तो सामने ज्ञेयवस्तु की पर्याय क्रमबद्ध ही होगी या अक्रमबद्ध? अपने ज्ञानस्वभाव को सामने रखकर विचार करे तो यह क्रमबद्धपर्याय की बात एकदम जम जाये, ऐसी है; किन्तु ज्ञायकस्वभाव को भूलकर विचार करे तो एक भी वस्तु का निर्णय नहीं हो सकता।

प्रवचन : पहला

[आश्विन शुक्ला ७, वीर सं० २४८०]

(१) अलौकिक अधिकार की पुनः वचनिका

यह अलौकिक अचिंत्य अधिकार है, इसलिये पुनः वचनिका होती है। यह मोक्ष अधिकार की चूलिका है। समयसार में नवतत्त्वों का वर्णन करने के पश्चात् आचार्यदेव ने यह ''सर्वविशुद्धज्ञान'' का वर्णन किया है। ''सर्वविशुद्धज्ञान'' अर्थात् आत्मा का ज्ञायकस्वभाव; उस स्वभाव में ढलकर अभेद हुआ ज्ञान, रागादि का भी अकर्ता ही है।

यहाँ सिद्ध करना है जीव का अकर्तृत्व! किन्तु उसमें क्रमबद्धपर्याय की बात करके आचार्यदेव ने अलौकिक रीति से अकर्तृत्व सिद्ध किया है।

(२) ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि कराने का प्रयोजन है

''प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है।'' एकसाथ ज्ञान, आनंद, श्रद्धादि अनन्त गुणों की क्रमबद्धपर्यायरूप से जीवद्रव्य उत्पन्न होता है। 'जीव' किसे कहा जाये, उसका वर्णन पहले (गाथा २, आदि में) करते आये हैं। वहाँ कहा था कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी अपनी निर्मल पर्याय में स्थित होकर जो उत्पन्न होता है, वही वास्तव में जीव है; जो रागादि भावों में स्थित है, वह वास्तव में जीव नहीं है। जीव ज्ञायकस्वभाव है, वह ज्ञायकस्वभाव वास्तव में रागरूप से उत्पन्न नहीं होता—इसलिये ज्ञायकसन्मुख हुआ जीव, राग का कर्ता नहीं होता; ज्ञायक की दृष्टि में उसे राग की अधिकता नहीं होती; इसलिये वह रागादि का अकर्ता ही है। ऐसा ज्ञायकस्वभाव का अकर्तृत्व बतलाकर, यहाँ उस ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि कराने का प्रयोजन है।

(३) ज्ञायकस्वभावी जीव, राग का भी अकर्ता है

आत्मा ज्ञायक है; अनादि से उसके ज्ञायकभाव का स्व-परप्रकाशक स्वभाव है; ज्ञान तो स्व-पर को जानने का ही काम करता है; किन्तु ऐसे ज्ञायकभाव की प्रतीति न करके अज्ञानी जीव, राग के कर्तारूप से परिणमित होता है, अर्थात् मिथ्यात्वरूप से उत्पन्न होता है। यहाँ आचार्यदेव उस अज्ञानी को उसका ज्ञायकस्वभाव समझाते हैं—आत्मा तो स्व-परप्रकाशक ज्ञायकस्वभावी है, उसका ज्ञायकभाव उत्पन्न होकर राग को उत्पन्न करे या मिथ्यात्वादि कर्मों के बन्ध में निमित्त हो—ऐसा नहीं है; और उन कर्मों को निमित्त बनाकर उनके आश्रय से स्वयं विकाररूप उत्पन्न

हो—ऐसा भी उसका स्वभाव नहीं है; किन्तु ज्ञायक के अवलंबन से क्रमबद्ध ज्ञायकभावरूप ही उत्पन्न हो—ऐसा आत्मा का स्वभाव है। स्वयं निमित्तरूप होकर दूसरे को न उत्पन्न करता हुआ, तथा दूसरे के निमित्त से स्वयं न उत्पन्न होता हुआ ऐसा ज्ञायकस्वभाव, वह जीव है। स्वसन्मुख रहकर स्वयं स्व-परप्रकाशक ज्ञानरूप क्रमबद्ध उत्पन्न होता हुआ, राग को भी ज्ञेय बनाता है। अज्ञानी, राग को ज्ञेय न बनाकर, उस राग के साथ ही ज्ञान की एकता मानकर मिथ्यादृष्टि होता है, और ज्ञानी तो ज्ञानस्वभाव में ही ज्ञान की एकता रखकर राग को पृथक्रूप से ज्ञेय बनाता है, इसलिये ज्ञानी तो ज्ञायक ही है, वह राग का भी कर्ता नहीं है।

(४) ज्ञानी की बात, अज्ञानी को समझाते हैं

—यह बात किसे समझाते हैं ?

यह बात है ज्ञानी की, किन्तु समझाते हैं अज्ञानी को। अन्तर में जिसे ज्ञानस्वभाव और राग की भिन्नता का भान नहीं है—ऐसे अज्ञानी को समझाते हैं कि—तू ज्ञायक है; ज्ञायकभाव स्व-पर का प्रकाशक है किन्तु रागादि का उत्पादक नहीं है। भाई! ज्ञायकभाव कर्ता होकर ज्ञान को उत्पन्न करेगा या राग को ? ज्ञायकभाव तो ज्ञान को ही उत्पन्न करता है। इसलिये ज्ञायकभाव, राग का कर्ता नहीं है—ऐसा तू समझ और ज्ञायकसन्मुख हो।

(५) किस दृष्टि से क्रमबद्धपर्याय का निर्णय होता है ?

यहाँ क्रमबद्धपर्याय बतलाकर ज्ञायकस्वभाव पर जोर देना है; क्रमबद्ध के वर्णन में ज्ञायक की ही मुख्यता है, रागादि की मुख्यता नहीं है। जीव अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, उसमें ज्ञान, श्रद्धा आदि समस्त गुणों का परिणमन साथ ही है। उस परिणामरूप से कौन उत्पन्न होता है ?—जीव उत्पन्न होता है। वह जीव कैसा ?—ज्ञायकस्वभावी। ऐसा निर्णय करनेवाला अपने ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से ज्ञानभावरूप ही (श्रद्धा, ज्ञान, आनंदादि गुणों के निर्मल अंशरूप ही) उत्पन्न होता है; रागरूप उत्पन्न नहीं होता। श्रद्धा, ज्ञान, आनंदादि की क्रमबद्धपर्यायरूप से 'राग' उत्पन्न नहीं होता, किन्तु ज्ञायकस्वभावी 'जीव' उत्पन्न होता है। इसलिये ज्ञायकस्वभाव पर जिसकी दृष्टि है, उसी को क्रमबद्धपर्याय का सच्चा निर्णय है, और उसकी क्रमबद्धपर्यायें होती जाती हैं।

(६) ''स्वसमय'' अर्थात् रागादि का अकर्ता

समयसार की पहली गाथा ''वंदित्तु सव्व सिद्धे...'' में सर्व सिद्ध-भगवन्तों को नमस्कार करके, दूसरी गाथा में जीव के स्वरूप का वर्णन करते हुए आचार्यदेव ने कहा है कि—

जीवो चरित्तदसंणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं॥

—अर्थात् स्वसन्मुख होकर अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल पर्याय में जो आत्मा स्थित है, उसे स्वसमय जान। वह तो जीव का स्वरूप है, किन्तु निमित्त में और राग में एकत्वबुद्धि करके उसी में जो स्थित है, वह परसमय है; वह वास्तव में जीव का स्वरूप नहीं है। वहाँ जिसे 'स्वसमय' कहा, उसी को यहाँ 'अकर्ता' कहकर वर्णन किया है। ज्ञायकस्वभाव सन्मुख होकर अपने सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान और वीतरागभाव की पर्यायरूप से जो उत्पन्न हुआ, वह 'स्वसमय' है और वह रागादि का 'अकर्ता' है।

(७) ''निमित्त का प्रभाव'' माननेवाले बाह्यदृष्टि में अटके हैं

आजकल तो इस मूलभूत अन्तर की बात को भूलकर अनेक लोग निमित्त और व्यवहार के झगड़े में फँसे हैं। निमित्तों का आत्मा पर प्रभाव पड़ता है—ऐसा मानकर जो निमित्ताधीन दृष्टि में ही अटक गये हैं, उन्हें तो ज्ञायकस्वभावोन्मुख होने का अवकाश नहीं है। निमित्त का प्रभाव पड़ता है—यानी कुम्हार का घड़े पर, कर्म का आत्मा पर प्रभाव पड़ता है—ऐसा जो मानते हैं, उन्हें तो अभी मिथ्यात्वरूपी मदिरा का प्रभाव लेकर मिथ्यादृष्टि ही रहना है। ज्ञायकस्वभावोन्मुख होने से मेरी पर्याय में ज्ञायकभाव का प्रभाव पड़ता है—ऐसा न मानकर, निमित्त का प्रभाव मानता है, तो हे भाई! निमित्तोन्मुखता को छोड़कर तू स्वभाव की ओर कब ढलेगा? निमित्त की ओर ही न देखकर ज्ञायकस्वभावोन्मुख हो तो कर्म का निमित्तपना नहीं रहता। अज्ञानी को अपने गुणों की विपरीतता में कर्म का निमित्त भले हो, किन्तु वह तो परज्ञेय में जाता है; यहाँ तो ज्ञानी की बात है कि—ज्ञानी स्वयं ज्ञायक की ओर ढला है; इसलिये वह ज्ञातारूप ही उत्पन्न हुआ है—रागरूप, आस्रव या बन्धरूप वह उत्पन्न नहीं होता; इसलिये उसे कर्म का निमित्तपना भी नहीं है। इस प्रकार, क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति करके ज्ञायकोन्मुख जीव, क्रमबद्धपर्याय में रागरूप से उत्पन्न नहीं होता, किन्तु ज्ञानरूप से ही उत्पन्न होता है और यही क्रमबद्ध की यथार्थ प्रतीति का फल है।

(८) ज्ञाता के क्रम में ज्ञान की वृद्धि और राग की हानि

प्रश्न : यदि पर्याय क्रमबद्ध है—हीनाधिक नहीं होती, तो फिर अल्प ज्ञान को बढ़ाया नहीं जा सकता और राग को कम नहीं किया जा सकता?

उत्तर : अरे भाई! अभी तू यह बात नहीं समझा; तेरा झुकाव ज्ञायक की ओर नहीं हुआ।

भाई! ज्ञान को बढ़ाने और राग को कम करने का उपाय कहीं बाह्य में है या अन्तरंग ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन में? 'मैं ज्ञायक हूँ और मेरे ज्ञायक की पर्याय तो क्रमबद्ध स्व-परप्रकाशक ही होती है'—ऐसा निर्णय करके ज्ञायक का अवलम्बन लिया है, वहाँ पर्याय-पर्याय में ज्ञान की विशुद्धता बढ़ती ही जाती है और राग कम होता जाता है। मैं ज्ञान को बढ़ाऊँ और राग को कम करूँ—इस प्रकार पर्याय की ओर ही लक्ष रखे, किन्तु अन्तर में ज्ञायकस्वभाव का अवलम्बन न ले तो उसे ज्ञान बढ़ाने और राग कम करने के सच्चे उपाय की खबर नहीं है। साधक को जो राग होता है, वह तो स्व-परप्रकाशक ज्ञान के ज्ञेयरूप है, किन्तु ज्ञान के कार्यरूप नहीं है; इसलिये ज्ञानी उसका ज्ञाता ही है, किन्तु वह राग का कर्ता या उसे बदलनेवाला नहीं है। राग के समय भी ज्ञान तो उस राग के ज्ञानरूप ही उत्पन्न हुआ है। यदि राग को इधर-उधर बदलने की बुद्धि करे तो राग का कर्तृत्व हो जाता है; इसलिये ज्ञातापने का क्रम न रहकर मिथ्यात्व हो जाता है। सामने जिस समय राग का काल है, उसी समय ज्ञानी को अपने में तो ज्ञातापने का ही काल है, ज्ञायकोन्मुख होकर वह तो ज्ञानरूप ही उत्पन्न होता है—रागरूप उत्पन्न नहीं होता।

(९) अन्तर्मुख ज्ञान के साथ आनन्द, श्रद्धा आदि का परिणमन और वही धर्म

जीव को ऐसा स्व-परप्रकाशक ज्ञान विकसित होने पर वह अपने आनन्दादि गुणों की निर्मलता को भी जानता है। ज्ञान के साथ आनन्द, श्रद्धादि अन्य अनन्त गुण भी उसी समय अपनी-अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं और ज्ञान उन्हें जानता है। ज्ञान में ऐसी ही स्व-परप्रकाशकपने की शक्ति विकसित हुई है, और उस समय अन्य में नहीं किन्तु उन गुणों में ही ऐसा क्रम है। यहाँ ज्ञान में स्व-सन्मुख होने से निर्मल स्व-परप्रकाशकशक्ति विकसित हुई और उसी समय श्रद्धा, आनन्दादि दूसरे गुणों में निर्मल परिणमन न हो—ऐसा कभी नहीं होता। शुद्ध द्रव्य की दृष्टि में द्रव्य के ज्ञान-आनन्दादि गुणों में एकसाथ निर्मल परिणमन का प्रवाह प्रारम्भ हो जाता है। सम्यक्श्रद्धा के साथ सम्यक्चारित्र, आनन्दादि का अंश भी साथ ही है। देखो, इसका नाम धर्म है। अन्तर में ऐसा परिणमन हो, वह धर्म है; इसके सिवा बाहर के किसी स्थान में या शरीरादि की क्रिया में धर्म नहीं है; पाप के या पुण्य के भाव में धर्म नहीं है; अकेले शास्त्रों के शब्दों को जान लेने में भी धर्म नहीं है। अन्तर्मुख होकर ज्ञायकस्वभाव का अवलम्बन लेने से, श्रद्धा-ज्ञानादि गुणों का निर्मल परिणमन प्रारम्भ जो जाये, उसका नाम धर्म है। इसप्रकार ज्ञायकमूर्ति आत्मा के अवलम्बन में धर्म है। ज्ञायक का अवलम्बन लेकर ज्ञानभावरूप से उत्पन्न हुआ, वही ज्ञानी का धर्म है।

(१०) जैसा वस्तुस्वरूप, वैसा ही ज्ञान, और वैसी ही वाणी

''जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते।
तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणाहि''॥३०९॥

अर्थात् सूत्र में जीव या अजीव के जो परिणाम दर्शाये हैं, उनके साथ उस जीव या अजीव को अनन्य-एकमेक जान। प्रत्येक द्रव्य की अपने परिणामों के साथ अभेदता है, किन्तु पर से भिन्नता है...

— ऐसा सर्वज्ञदेव और सन्तों ने जाना है;

— सर्वज्ञ के आगम में-सूत्र में भी ऐसा कहा है; और

— वस्तुस्वरूप भी ऐसा ही है;

इस प्रकार ज्ञान, शब्द और अर्थ—इन तीनों की सन्धि है। प्रतिसमय क्रमबद्ध उत्पन्न होनेवाले अपने परिणामों के साथ द्रव्य-तन्मय है—ऐसा वस्तु का स्वरूप है; ऐसा ही सर्वज्ञ और सन्तों का ज्ञान जानता है और ऐसा ही सूत्र बतलाता है। इससे विपरीत बतलाये, अर्थात् एक द्रव्य के परिणाम का कर्ता दूसरा द्रव्य है—ऐसा बतलाये, तो वे देव, गुरु या शास्त्र सच्चे नहीं हैं और वस्तु का स्वरूप भी ऐसा नहीं है।

(११) ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि ही मूल तात्पर्य

यहाँ क्रमबद्धपर्याय में द्रव्य की अनन्यता बतलाकर द्रव्यदृष्टि कराने का ही तात्पर्य है।

(१) **''णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।**
एवं भणंति सुद्धं णादो जो सो दु सो चेव॥''

—ऐसा कहकर वहाँ छठवीं गाथा में पर्याय के भेदों का अवलम्बन छुड़ाकर एकरूप ज्ञायकभाव की दृष्टि कराई है।

तत्पश्चात्—

(२) **''ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।**
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो॥''

—भूतार्थस्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है, ऐसा कहकर कहाँ ग्यारहवीं गाथा में भी एकरूप ज्ञायकस्वभाव का ही अनुभव कराया है।

(३) और, संवर अधिकार में '**उवओगे उवओगो...**—उपयोग में उपयोग है'—ऐसा

कहकर, संवर की जो निर्मलदशा प्रगट हुई, उसके साथ आत्मा की अभेदता बतलाई, अर्थात् ज्ञायकस्वरूप में अभेदता से ही संवरदशा प्रगट होती है—ऐसा बतलाया है।

इस प्रकार आचार्य भगवान पहले से ही ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन की बात कहते आये हैं। यहाँ भी क्रमबद्धपर्याय में द्रव्य की अनन्यता बतलाकर, दूसरे ढंग से ज्ञायकस्वभाव की ही दृष्टि कराई है। '**दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं**'—ऐसा कहकर, पर्याय-पर्याय में (प्रत्येक समय की पर्याय में) अभेदरूप से तेरा ज्ञायकभाव ही परिणमित हो रहा है—ऐसा बतलाया है। (इस सम्बन्धी विस्तार के लिये अंक नंबर ११९-१२० में प्रवचन आठवाँ देखें।)

(१२) बारम्बार मननकर अन्तर में परिणमित करने जैसी मुख्य बात

देखो, ऐसा 'ज्ञा... य... क... भा... व' जीव का सिर है;—वह मुख्य बात है; इसलिये उसे सिर कहा है। यह बात मुख्य प्रयोजनभूत होने से बारम्बार रटने जैसी है, अन्तर में निर्णय करके परिणमित करने जैसी है।

(१३) जीवतत्त्व

सात तत्त्वों में से जीवतत्त्व कैसा है, उसकी यह बात है। जीवतत्त्व का ज्ञायकस्वभाव है; उसके सन्मुख होकर ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न हुआ और उस परिणाम में अभेद हुआ, वही वास्तव में जीव है; राग में अभेद होकर उत्पन्न हुआ, वह वास्तव में जीवतत्त्व नहीं है, वह तो आस्रवतत्त्व है। ज्ञानी के परिणमन में राग की मुख्यता नहीं है, उनके तो एक ज्ञायक की ही मुख्यता है, राग के वे ज्ञाता हैं। ज्ञायकोन्मुख होकर उसे 'निश्चयज्ञेय' बनाया, वहाँ अस्थिरता का अल्पराग 'व्यवहारज्ञेय' हो जाता है।

(१४) जीवन का सच्चा कर्तव्य

जीवन में यह मुख्य करने जैसा है,—इस समझ से ही जीवन की सफलता है... अरे! जीवन में ऐसी अपूर्व समझ बिना जीवन की घड़ियाँ व्यर्थ जाती हैं—ऐसी जिसे चिन्ता भी न हो—समझने की दरकार भी न हो, वह जीव समझने का प्रयत्न कहाँ से करेगा? सच्ची समझ का मूल्य भासित होना चाहिए कि जीवन में सत्समागम से सच्ची समझ करना ही एक करनेयोग्य सच्चा कार्य है। इस समझ के बिना 'जगत में बाह्य कार्य मैंने किये'—ऐसा मानकर जो व्यर्थ ही पर का अभिमान करता है, वह तो साँड की भाँति घूरे तितर-बितर करता है (जैसे कूड़े-कचरे के ढेर को साँड ऊँचा-नीचा करता है, वैसे व्यर्थ अहंकार में समय गँवाता है)। उसमें आत्मा का किंचित् हित नहीं है।

(१५) प्रभु! अपने ज्ञायकभाव को लक्ष में ले

भगवान! तेरा आत्मा अनादि-अनन्त चैतन्यपिण्ड विद्यमान है, उसे तो एक बार लक्ष में ले! अनादि से बाहर देखा है, किन्तु भीतर मैं कौन हूँ—यह कभी नहीं देखा.... सिद्धपरमात्मा जैसा अपना आत्मा है, उसे कभी लक्ष में नहीं लिया। तेरा आत्मा ज्ञायक है। प्रभु! ज्ञायक उत्पन्न होकर ज्ञायकभाव की रचना करेगा या राग की? सुवर्ण उत्पन्न होकर सुवर्ण अवस्था की रचना करेगा, कहीं लोहे की दशा नहीं रचेगा। उसी प्रकार आत्मा का ज्ञायकस्वभाव है, वह तो ज्ञायकभाव का ही रचयिता है—ज्ञायक के अवलम्बन से ज्ञायकभाव की ही रचना (उत्पत्ति) होती है, किन्तु अज्ञानी अपने ज्ञायकस्वभाव को भूलकर राग की रचना करता है—रागादि का कर्ता बनता है। यहाँ ज्ञायकस्वभाव बतलाकर आचार्यदेव उस राग का कर्तृत्व छुड़ाते हैं।

(१६) निर्मल पर्याय को ज्ञायकस्वभाव का ही अवलम्बन

ज्ञानी अपने ज्ञायकस्वभाव में एकाग्रता से ज्ञायकभावरूप ही क्रमबद्ध उत्पन्न होता है; अपने ज्ञायकपरिणाम के साथ अभेद होकर उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं है। वह किसी अन्य के अवलम्बन द्वारा, निमित्त के कारण, राग के कारण या पूर्व पर्याय के कारण उत्पन्न नहीं होता, तथा भविष्य की पर्याय में केवलज्ञान होना है, उसके कारण इस समय सम्यग्दर्शनादि पर्याय होती है—ऐसा भी नहीं है; वर्तमान में जीव स्वयं ज्ञायकस्वाभावोन्मुख होकर ज्ञायकभावरूप (सम्यग्दर्शनादिरूप) उत्पन्न हुआ है। स्वोन्मुख हुई वर्तमान पर्याय का क्रम ही ऐसा निर्मल है। इस प्रकार अन्तरोन्मुख होकर ज्ञायकस्वभाव को पकड़ा, वहाँ निर्मल पर्याय उत्पन्न हुई; वर्तमान स्वभाव का अवलम्बन ही उसका कारण है, इसके सिवा पूर्व-पश्चात् का कोई कारण नहीं है तथा निमित्त या व्यवहार का अवलम्बन नहीं है।

(१७) 'पुरुष प्रमाणे वचन प्रमाण' यह कब लागू होता है?

प्रश्न : ऐसा सूक्ष्म समझने में बड़ी मेहनत होती है, इसकी अपेक्षा 'पुरुष की प्रमाणता से वचन प्रमाण'—ऐसी धारणा करके यह बात मान लें तो?

उत्तर : भाई! यह तो अकेला पर-प्रकाशक हुआ, स्व-प्रकाशक के बिना पर-प्रकाशकपना कहाँ से सच्चा होगा? पुरुष प्रमाण है या नहीं, उसका निर्णय ज्ञान के बिना कौन करेगा? ज्ञान का निर्णय करके सम्यग्ज्ञान हुए बिना पुरुष की प्रमाणता की परीक्षा कौन करेगा? आप्तमीमांसा (-देवागमस्तोत्र) में स्वामी समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि—हे नाथ! हम तो परीक्षा

द्वारा आपकी सर्वज्ञता का निर्णय करके आपको मानते हैं। प्रयोजनरूप मूलभूत तत्त्वों की तो परीक्षा करके अपने ज्ञान में निर्णय करे, और फिर दूसरे अप्रयोजनरूप तत्त्वों में न पहुँच सके तो उसे 'पुरुष प्रमाणे वचन प्रमाण' करके मान लेना ठीक है; किन्तु एकान्त 'पुरुष प्रमाणे वचन प्रमाण' कहकर रुक जाये और अपने ज्ञान में मूलभूत तत्त्वों के निर्णय का भी उद्यम न करे, उसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता। पुरुष की प्रमाणता का (सर्वज्ञ का) निर्णय करने जाये तो उसमें भी ज्ञानस्वभाव का ही निर्णय करना आता है। पुरुष की प्रमाणता तो उसमें है, किन्तु वह किस प्रकार है—यह तेरे ज्ञान में तो भासित नहीं हुआ है; पुरुष की प्रमाणता का निर्णय तेरे ज्ञान में तो आया नहीं है, इसलिये 'पुरुष प्रमाणे वचन प्रमाण'—यह बात तेरे लिये लागू नहीं होती।

(१८) क्रमबद्ध की या केवली की बात कौन कह सकता है ?

इसी प्रकार अकेले पर की या राग की ओट लेकर कोई अज्ञानी ऐसा कहे कि 'विकार क्रमबद्धपर्याय में होना था, इसलिये हुआ, अथवा केवलीभगवान ने वैसा देखा था, इसलिये हुआ'—तो वह स्वच्छन्दी है; भाई रे! अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के बिना तू क्रमबद्धपर्याय की या केवली की बात कहाँ से लाया ? तू अकेले राग की ओट लेकर बात करता है, किन्तु ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नहीं करता, तो तूने वास्तव में केवलीभगवान को या क्रमबद्धपर्याय को माना ही नहीं है। केवलीभगवान को या क्रमबद्धपर्याय को यथार्थरूप से पहिचाननेवाले जीव की दृष्टि तो अन्तर में अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर ढली होती है; उसके तो ज्ञान की ही अधिकता होती है, राग की अधिकता उसके होती ही नहीं। ज्ञानस्वभाव की ओर ढले बिना धर्म में एक पग भी नहीं चल सकता।

(१९) ज्ञान के निर्णय बिना सब मिथ्या है। ज्ञायकभावरूपी तलवार से सम्यक्त्वी ने संसार को छेद डाला है

प्रश्न : तो क्या अभी तक किया हुआ हमारा सब झूठा है ?

उत्तर : हाँ, भाई! सब मिथ्या है। अन्तर में 'मैं ज्ञान हूँ'—ऐसा लक्ष और प्रतीति न करे, तबतक शास्त्रों की पढ़ाई या त्यागादि सब झूठे हैं, उनसे संसार का नाश नहीं होता। आत्मा का ज्ञानस्वभाव, सर्वज्ञता और पदार्थों की क्रमबद्धपर्याय—इन सबका निर्णय करके जहाँ ज्ञायक की ओर ढला, वहाँ ज्ञायकभावरूपी ऐसी तलवार हाथ में ली है, जो एक क्षण में संसार की जड़ को छेद डाले!

(२०) सम्यग्दृष्टि मुक्त; मिथ्यादृष्टि को ही संसार

अब अगली गाथाओं में कहेंगे कि—ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में सम्यक्त्वी को संसार ही नहीं है; जिसकी दृष्टि कर्म पर है, ऐसे मिथ्यादृष्टि को ही संसार है। सम्यक्त्वी तो ज्ञानानन्दस्वभाव की दृष्टि से अपने शुद्धस्वभाव में निश्चल होने से वास्तव में मुक्त ही है;—**'शुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव।'** (देखो, कलश १९८)

ज्ञायकस्वभाव की दृष्टिवाले ज्ञानी का अकर्तृत्व सिद्ध करके, अब (३१२-३१३) दो गाथाओं में आचार्यदेव कहेंगे कि जिसे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं है, ऐसे मिथ्यादृष्टि को ही निमित्त-नैमित्तिकभाव से संसार है।

कर्म के निमित्त का जीव पर प्रभाव पड़ता है, अथवा जैसा निमित्त आये, वैसा कार्य होता है, कर्म के उदयानुसार विकार होता है—ऐसी अज्ञानी की मान्यता तो दूर रही, किन्तु जीव स्वयं मिथ्यात्वादि करे, तब कर्म को निमित्त कहा जाता है, और जीव निमित्त होकर मिथ्यात्वादि कर्मों का बन्ध करता है—यह बात भी मिथ्यादृष्टि को लागू होती है। कर्म का निमित्तकर्ता मिथ्यादृष्टि है, ज्ञानी तो अकर्ता ही है; ज्ञानी को कर्म के साथ निमित्त-नैमितितकपना नहीं है, उसे ज्ञायक के साथ सन्धि हुई है और कर्म के साथ की सन्धि टूट गई है।

(२१) सम्यग्दर्शन के विषयरूप जीवतत्त्व कैसा है ?

ज्ञानी अपने ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से क्रमबद्ध ज्ञाताभावरूप ही उत्पन्न होता है, किन्तु राग के कर्तारूप से उत्पन्न नहीं होता। 'राग का कर्ता जीव' सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है, किन्तु 'ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न होनेवाला जीव' सम्यग्दर्शन का विषय है। ऐसे जीवतत्त्व की प्रतीति करना, सो सम्यग्दर्शन है।

(१) 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'।

(२) तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। और

(३) जीवाजीवास्त्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्वम्।

—ऐसा मोक्षशास्त्र में उमास्वामी महाराज ने कहा है; वहाँ ऐसे ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न होनेवाले जीवद्रव्य को पहिचाने तो जीवतत्त्व की सच्ची प्रतीति है। ऐसे जीवतत्त्व की प्रतीति के बिना तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन या मोक्षमार्ग का प्रारम्भ नहीं होता।

(२२) निमित्त अकिंचित्कर है, तथापि सत् में सत् निमित्त ही होता है

अभी तो सात तत्त्वों में से जीवतत्त्व कैसा है, उसकी यह बात है। ऐसे जीव को पहिचाने तो सच्ची श्रद्धा होती है और पश्चात् ही श्रावकत्व या मुनित्व होता है। वस्तु का स्वरूप तो ऐसा है; उसमें दूसरा कुछ नहीं हो सकता। स्वयं अन्तर में पात्र होकर समझे तो पकड़ में आ सकता है; दूसरा कोई दे जाये या समझा दे—ऐसा नहीं है। यदि कोई दूसरा दे दे, तो कोई तीसरा आकर लूट भी ले! किन्तु ऐसा नहीं होता। ऐसा होने पर भी—अर्थात् निमित्त अकिंचित्कर है फिर भी, सम्यग्ज्ञान प्राप्त करनेवाले को निमित्त कैसा होता है, वह जानना चाहिये। आत्मा का अपूर्व ज्ञान प्राप्त करनेवाले जीव को सामने निमित्तरूप से भी ज्ञानी ही होते हैं। वहाँ, सम्यग्ज्ञानरूप परिणमित सामनेवाले ज्ञानी का आत्मा 'अन्तरंग निमित्त' है और उन ज्ञानी की वाणी 'बाह्यनिमित्त' है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने में ज्ञानी ही निमित्त होते हैं, अज्ञानी निमित्त नहीं होते; और अकेली जड़ वाणी भी निमित्त नहीं होती।—यह बात नियमसार की ५३ वीं गाथा के व्याख्यान में अत्यन्त स्पष्टरूप से कही जा चुकी है। (देखो, आत्मधर्म, हिन्दी वर्ष ७ वाँ, अंक ९ वाँ) सत् समझने में कैसा निमित्त होता है, वह न पहिचाने तो अज्ञानी-मूढ़ है; और निमित्त कुछ कर दे—ऐसा माने तो वह भी मूढ़-मिथ्यादृष्टि है।

(२३) आत्महित के लिये भेदज्ञान की सीधी-सादी बात

देखो, यह तो सीधी-सादी बात है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होता है, तो दूसरा उसमें क्या करे? तदुपरान्त यहाँ तो समझाना है कि भगवान आत्मा ज्ञायक है, वह क्रमबद्ध अपने ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न होता हुआ ज्ञायकभाव की ही रचना करता है; रागरूप से उत्पन्न हो या राग की रचना करे—ऐसा जीवतत्त्व का सच्चा स्वरूप नहीं है, वह तो आस्रव और बन्धतत्त्व में जाता है। अन्तर में राग और जीव का भी भेदज्ञान करने की यह बात है। निमित्त कुछ करता है—ऐसा माननेवाले को तो अभी बाहर का भेदज्ञान भी नहीं है—पर से भिन्नता का ज्ञान भी नहीं है; तब फिर 'ज्ञायकभाव, राग का कर्ता नहीं है'—ऐसा अन्तर का (ज्ञान और राग के बीच का) भेदज्ञान तो उसे कहाँ से होगा? किन्तु जिसे धर्म करना हो—आत्मा का कुछ भी हित करना हो, उसे दूसरा सब एक ओर रखकर यह बात समझना पड़ेगी। भाई! तेरे चैतन्य का प्रकाशक स्वभाव है; वह नई-नई क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ, ज्ञायकस्वभाव के भानपूर्वक रागादि को या निमित्तों को भी ज्ञातारूप से जानता ही है; ज्ञातारूप से उत्पन्न होता है किन्तु राग के कर्तारूप से उत्पन्न नहीं होता।

जीव, राग के कर्तारूप से उत्पन्न नहीं होता, तो क्या वह कूटस्थ है ?—नहीं; वह अपने ज्ञाताभावरूप से उत्पन्न होता है, इसलिये कूटस्थ नहीं है। यहाँ तो कहा है कि 'जीव उत्पन्न होता है'—अर्थात् द्रव्य स्वयं परिणमित होता हुआ अपनी पर्याय को द्रवित करता है, द्रव्य स्वयं अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होता है; वह कूटस्थ नहीं है, तथा दूसरा उसका परिणमन करानेवाला नहीं है।

(२४) हे ज्ञायक चिदानन्दप्रभु! अपने ज्ञायकतत्त्व को लक्ष में ले!

सर्वज्ञदेव, कुन्दकुन्दाचार्य—अमृतचन्द्राचार्य आदि सन्त और शास्त्र ऐसा कहते हैं कि ज्ञायकस्वरूपी जीव, रागादि का अकर्ता है। अरे भाई! तू ऐसे जीवतत्त्व को मानता है या नहीं ?—या फिर निमित्त को और राग को ही मानता है ? निमित्त को और राग को पृथक् रखकर ज्ञायकतत्त्व को लक्ष में ले। निमित्त को उत्पन्न करनेवाला या रागरूप उत्पन्न होनेवाला मैं नहीं हूँ; मैं तो ज्ञायकरूप से ही उत्पन्न होता हूँ; इसलिये मैं ज्ञायक ही हूँ—ऐसा अनुभव कर, तो तुझे सात तत्त्वों में से जीवतत्त्व की सच्ची प्रतीति हुई कहलाये, और तभी तूने देव-गुरु-शास्त्र को वास्तव में माना कहा जाये।

हे ज्ञायक चिदानन्दप्रभु! स्व-सन्मुख होकर प्रतिसमय ज्ञाताभावरूप से उत्पन्न होना, वह तेरा स्वरूप है; ऐसे अपने ज्ञायकतत्त्व को लक्ष में ले।

(२५) अरे! एकान्त की बात एक ओर रखकर यह समझ!

यह बात सुनते ही, 'अरे! एकान्त हो जाता है.... रे... एकान्त हो जाता है!'—ऐसा कई अज्ञानी पुकारते हैं। किन्तु अरे! तेरी वह बात एक और रखकर यह समझ! यह समझने से, राग और ज्ञान एकमेक है—ऐसा तेरा अनादिकालीन मिथ्याएकान्त दूर हो जायेगा और ज्ञायक के साथ ज्ञान की एकतारूप सम्यक्एकान्त होगा; उस ज्ञान के साथ सम्यक्श्रद्धा, आनन्द पुरुषार्थ आदि अनन्त गुणों का परिणमन भी साथ ही है, इसलिये अनेकान्त है।

(२६) सम्यक्त्वी के राग है या नहीं ?

अन्तरस्वभाव के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हुए, उसके साथ चारित्र का अंश भी विकसित हुआ है—स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट हो गया है। किसी को ऐसी शंका हो कि 'सम्यग्दर्शन होने पर उसके साथ पूर्ण चारित्र क्यों न हुआ ?'—तो उसे ज्ञान, चारित्र आदि के भिन्न-भिन्न क्रमबद्धपरिणमन की खबर नहीं है। क्रमबद्धपरिणमन में कहीं ऐसा नियम नहीं है कि

सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान होने पर उसी क्षण पूर्ण चारित्र भी प्रगट हो ही जाये। अरे, क्षायिकसम्यग्दर्शन होने के पश्चात् लाखों-करोड़ों वर्षों तक श्रावकत्व या मुनित्व (पाँचवाँ या छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान) नहीं आता, और किसी को सम्यग्दर्शन होने पर अन्तर्मुहूर्त में ही मुनिदशा-क्षपकश्रेणी और केवलज्ञान हो जाता है। तथापि, सम्यक्त्वी चौथे गुणस्थान में भी राग के ज्ञाता ही हैं; यहाँ अपने स्व-परप्रकाशक ज्ञान का वैसा ही सामर्थ्य है;—इस प्रकार ज्ञानसामर्थ्य की प्रतीति के बल से ज्ञानी उस-उस समय के राग को भी ज्ञेय बना देते हैं। ज्ञायकस्वभाव की अधिकता उनकी दृष्टि में से एक क्षण भी नहीं हटती; ज्ञायक की दृष्टि में वे ज्ञाताभावरूप ही उत्पन्न होते हैं; राग में तन्मयरूप से उत्पन्न नहीं होते।—इस प्रकार क्रमबद्धपर्याय में ज्ञानी को राग की प्रधानता नहीं है—ज्ञातृत्व की ही प्रधानता है। राग के समय, 'मैं इस रागरूप उत्पन्न होता हूँ'—ऐसी जिसकी दृष्टि है और ज्ञायक की दृष्टि नहीं है, वह वास्तव में क्रमबद्धपर्याय का वास्तविक स्वरूप समझा ही नहीं है।

(२७) क्रमबद्धपर्याय का सच्चा निर्णय कब होता है ?

'क्रमबद्धपर्याय में मुझे मिथ्यात्व आना होगा तो ?'—ऐसी शंका करनेवाले का सच्चा निर्णय हुआ ही नहीं है। सुन रे सुन मूढ़ ! तूने क्रमबद्धपर्याय किसके सन्मुख देखकर मानी ? अपने ज्ञायकद्रव्य की ओर देखकर मानी है या पर की ओर देखकर ? जिसने ज्ञायक-द्रव्यसन्मुख होकर क्रमबद्ध की प्रतीति की, उसके तो मिथ्यात्व होता ही नहीं; और यदि अकेले पर की ओर देखकर तू क्रमबद्ध की बात करता हो तो तेरा क्रमबद्ध का निर्णय ही मिथ्या है। तेरी क्रमबद्धपर्यायरूप से कौन उत्पन्न होता है ?—जीव; जीव कैसा ?-ज्ञायकस्वभावी; तो ऐसे जीवतत्त्व को तूने लक्ष में लिया है ? यदि ऐसे ज्ञायकस्वभावी जीवतत्त्व को जानकर क्रमबद्धपर्याय माने, तब तो ज्ञातापने की ही क्रमबद्धपर्याय हो और मिथ्यात्व होता ही नहीं; मिथ्यात्वरूप से उत्पन्न हो—ऐसा ज्ञायक का स्वभाव नहीं है।

(२८) ज्ञानी राग के अकर्ता हैं; 'जिसकी मुख्यता उसी का कर्ता'

प्रश्न : ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि होने के पश्चात् भी ज्ञानी को राग तो होता है ?

उत्तर : वह राग, ज्ञाता का कार्य नहीं है, किन्तु ज्ञाता का ज्ञेय है। ज्ञायकस्वभाव परमार्थज्ञेय है और राग व्यवहारज्ञेय। ज्ञाता के परिणाम में तो ज्ञान की ही मुख्यता है, राग की मुख्यता नहीं है; और जिसकी मुख्यता है, उसी का कर्ता-भोक्ता है। पुनश्च, 'व्यवहार है, इसलिये परमार्थ है'—ऐसा भी नहीं है; राग है, इसलिये उसका ज्ञान होता है-ऐसा नहीं है। ज्ञायक के अवलम्बन से

ही ऐसे स्व-परप्रकाशक ज्ञान का परिणमन हुआ है; राग कहीं ज्ञायक के अवलम्बन में से नहीं हुआ है, इसलिये ज्ञानी उसका अकर्ता है।

(२९) क्रमबद्धपर्याय समझने जितनी पात्रता कब... ?

प्रश्न : आप कहते हैं ऐसे ज्ञायकस्वरूप जीव को तथा क्रमबद्धपर्याय को हम मानें, और साथ ही साथ कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को भी मानें, तो क्या हर्ज ?

उत्तर : अरे! कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र के पास इस बात की गंध भी नहीं है, तो उनके पास जो नहीं है, वह बात तुझमें कहाँ से आई ? किसी के पास धारणा करके—चोरी करके—इस बात के नाम से तुझे अपने मान की पुष्टि करना है, यह बड़ा स्वच्छन्द है! जिसको ज्ञायकस्वभाव और क्रमबद्धपर्याय समझने जितनी पात्रता हुई हो, उस जीव को कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का सेवन होता ही नहीं। किसी के शब्द लेकर रट ले, तो ऐसा नहीं चल सकता। सर्व प्रकार की पात्रता हो तो यह बात समझ में आ सकती है।

(३०) भगवान! तू कौन और तेरे परिणाम कौन ?

ज्ञानी अपनी ज्ञायकभाव की क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है; अजीव नहीं है। ज्ञायकभाव के सिवा राग भी वास्तव में जीव नहीं है; ज्ञानी उस रागरूप से उत्पन्न नहीं होता। कर्म, जीव नहीं है; शरीरद्व जीव नहीं है; इसलिये ज्ञायकरूप से उत्पन्न होनेवाला जीव कर्म, शरीरादि का निमित्तकर्ता भी नहीं है; ज्ञायक तो ज्ञायक ही है; ज्ञायकभावरूप ही वह उत्पन्न होता है।—ऐसा जीव का स्वरूप है।

* भगवान! तू कौन और तेरे परिणाम कौन ? उन्हें पहिचान।

* तू जीव! ज्ञायक! और ज्ञायक के आश्रय से दर्शन-ज्ञान-चारित्र की जो निर्मल पर्याय उत्पन्न हुई, वे तेरे परिणाम!

—ऐसे निर्मल क्रमबद्धपरिणामरूप से उत्पन्न होने का तेरा स्वभाव है; किन्तु विकार का कर्ता होकर पर को उत्पन्न करे या परनिमित्त से स्वयं उत्पन्न हो—ऐसा तेरा स्वभाव नहीं है। एक बार अपनी पर्याय को अन्तरोन्मुख कर, तो ज्ञायक के आश्रय से तेरी क्रमबद्धपर्याय में निर्मल परिणमन हो।

(३१) ज्ञानी की दशा

ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर जो क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ है—ऐसे ज्ञानी को प्रमाद भी

नहीं होता और आकुलता भी नहीं होती—क्योंकि (१) ज्ञायकस्वभाव की सन्मुखता किसी भी समय दूर नहीं होती, इसलिये प्रमाद नहीं होता; दृष्टि के बल से स्वभाव के अवलम्बन का प्रयत्न चालू ही है; और (२) क्रम बदलने की बुद्धि नहीं है, इसलिये उतावली भी नहीं है—पर्यायबुद्धि की आकुलता नहीं है, किन्तु धैर्य है। ज्ञायकस्वभाव का ही अवलम्बन करके परिणमित होते हैं, उसमें प्रमाद भी कैसा और आकुलता भी कैसी ?

(३२) ''अकिंचित्कर हो तो, निमित्त की उपयोगिता क्या ?'' अज्ञानी का प्रश्न

जिसे ज्ञायक की दृष्टि नहीं है और क्रम बदलने की बुद्धि है, वह भी मिथ्यादृष्टि है; तो फिर निमित्त आकर पर्याय बदल दे—यह मान्यता तो कहाँ रही ?

प्रश्न : यदि निमित्त कुछ न करता हो, तो उसकी उपयोगिता क्या है ?

उत्तर : भाई ! आत्मा में पर की उपयोगिता है ही कहाँ ? उपयोगिता तो उपयोगस्वरूप आत्मा की ही है। निमित्त की उपयोगिता निमित्त में है, किन्तु आत्मा में उसकी उपयोगिता नहीं है। 'आत्मा में निमित्त की उपयोगिता नहीं है'—ऐसा मानने से कहीं जगत में से निमित्त के अस्तित्व का लोप नहीं हो जाता; वह ज्ञान का ज्ञेय है। जगत में ज्ञेयरूप से तो तीन काल तीन लोक हैं, उससे कहीं आत्मा में उनकी उपयोगिता हो गई ? अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि—'निमित्त की उपयोगिता मानो, अर्थात् निमित्त कुछ कर देता है—ऐसा मानो तो तुमने निमित्त को माना, ऐसा कहा जायेगा।' किन्तु भाई ! निमित्त को निमित्त में ही रख; आत्मा में निमित्त की उपयोगिता नहीं है—ऐसा मानने में ही निमित्त का निमित्तपना रहता है, किन्तु निमित्त उपयोगी होकर आत्मा में कुछ कर देता है—ऐसा मानने से निमित्त, निमित्तरूप से नहीं रहता, किन्तु उपादान-निमित्त की एकता हो जाती है, अर्थात् मिथ्यात्व हो जाता है। इसलिये निमित्त का अस्तित्व जैसा है, वैसा जानना चाहिये, किन्तु जिन्हें शुद्ध उपादानरूप ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं है और अकेले निमित्त को जानने जाते हैं, उन्हें निमित्त का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, क्योंकि स्व-परप्रकाशक सम्यग्ज्ञान ही उनके विकसित नहीं हुआ है। ●●

दूसरा प्रवचन

[आश्विन शुक्ला ८, वीर सं० २४८०]

(३३) ''जीव'' अजीव का कर्ता नहीं है—क्यों नहीं है ?

इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में क्रमबद्धपर्याय का वर्णन करके आचार्यदेव ने आत्मा का अकर्तृत्व बतलाया है। प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है और उसी में तन्मय है, किन्तु दूसरे द्रव्य की पर्यायरूप से कोई उत्पन्न नहीं होता, अर्थात् कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य का, दूसरे द्रव्य की अवस्था का कर्ता नहीं है। तदुपरान्त, ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में क्रमबद्ध उत्पन्न होनेवाला जीव, राग का या कर्म का कर्ता निमित्तरूप से भी नहीं है—यह बात यहाँ बतलाई है।

जीव, अजीव का कर्ता नहीं है;—क्यों नहीं है ?—कहते हैं कि अजीव भी अपने क्रमबद्धपरिणामरूप से उत्पन्न होता हुआ उसमें तद्रूप है, और जीव अपने ज्ञायकस्वभाव की क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ ज्ञायक ही है; इसलिये वह रागादि का कर्ता नहीं है तथा अजीव कर्मों का भी कर्ता नहीं है।

यहाँ जीव को समझाना है कि जीव! तू ज्ञायक है; तेरी क्रमबद्धपर्याय ज्ञाता-दृष्टारूप ही होना चाहिए; उसके बदले तू राग के कर्तारूप परिणमित होता है, वह तेरा अज्ञान है।

(३४) कर्म के साथ का निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध तोड़ दिया, उसने संसार तोड़ दिया

जीव दूसरे को परिणमित करता है और दूसरा निमित्त होकर जीव को परिणमित करता है—ऐसा अज्ञानी मानते हैं; और कोई भाषा बदलकर ऐसा कहते हैं कि—'दूसरा इस जीव को परिणमित तो नहीं करता, किन्तु जैसा निमित्त आये, वैसे निमित्त का अनुसरण करके जीव स्वतः परिणमित हो जाता है; नहीं तो निमित्त-नैमित्तिक-सम्बन्ध उड़ जाता है!'—ऐसा माननेवाले भी अज्ञानी हैं; उन्हें अभी निमित्त का अनुसरण करना है और उसके साथ सम्बन्ध रखना है, किन्तु ज्ञायकस्वभाव का अनुसरण नहीं करना है।—ऐसे जीवों के लिये आचार्यदेव अगली गाथाओं में कहेंगे कि—अज्ञानी को कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिकभाव के कारण ही संसार है। ज्ञानी तो ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में निमित्त का अनुसरण ही नहीं करते; ज्ञायक का ही अनुसरण करते हैं; ज्ञायकस्वभाव में एकता करके निमित्त के साथ का सम्बन्ध उन्होंने तोड़ डाला है, इसलिये दृष्टि अपेक्षा से उनके संसार है ही नहीं।

(३५) 'ईश्वर जगत्कर्ता' और 'आत्मा पर का कर्ता'—ऐसी मान्यतावाले दोनों समान हैं

निमित्त पाकर जीव की पर्याय होती है अथवा तो जीव, निमित्त होकर दूसरे जीव को बचा देता है—ऐसा कर्तृत्व माननेवाले भले ही जैन नाम धारण किए हों, तथापि ईश्वर को जगत्कर्ता माननेवाले लौकिकजनों की भाँति, वे मिथ्यादृष्टि ही हैं।—यह बात भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने ३२१-२२-२३ वीं गाथा में कही है।

(३६) ज्ञानी की दृष्टि और ज्ञान

अपनी क्रमबद्धपर्याय से द्रव्य स्वयं ही प्रतिसमय उत्पन्न होता है, उसमें अन्य कर्ता की अपेक्षा नहीं है; दूसरे से निरपेक्षरूप से द्रव्य में कर्ता-कर्मपना है। द्रव्य अपनी पर्याय को करे, वहाँ भूमिकानुसार निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध का मेल सहज ही भले हो, किन्तु ज्ञानी की दृष्टि तो ज्ञायकस्वभाव पर ही है; निमित्तसन्मुख ज्ञानी को दृष्टि नहीं है। ज्ञानी के जो स्व-परप्रकाशक ज्ञान विकसित हुआ है, उसमें निमित्त का भी ज्ञान आ जाता है।

(३७) द्रव्य को लक्ष में रखकर क्रमबद्धपर्याय की बात

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप वस्तु स्वयं परिणमित होकर प्रतिसमय नई-नई क्रमबद्ध अवस्थारूप से उत्पन्न होती है; वस्तु में प्रतिसमय आन्दोलन हो रहा है; पहले समय के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव दूसरे समय सर्वथा ज्यों के त्यों नहीं रहते, किन्तु दूसरे समय में पलटकर दूसरी अवस्थारूप से उत्पन्न होते हैं। इसलिये पर्याय के बदलने से द्रव्य भी परिणमित होकर उस-उस समय की पर्याय के साथ तन्मयरूप से वर्तता है।—इसप्रकार द्रव्य को लक्ष में रखकर क्रमबद्धपर्याय की बात है। पहली बार के आठ प्रवचनों में यह बात अच्छी तरह विस्तारपूर्वक आ गई है।

(—देखो, अंक नं. ११९-२०, प्रवचन ८ वाँ, पेरा नं० १८८)

(३८) परमार्थतः सभी जीव ज्ञायकस्वभावी हैं; किन्तु ऐसा कौन जानता है ?

सभी जीव अनादि-अनन्त स्व-परप्रकाशक ज्ञायकस्वभावरूप ही हैं। जीव के एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रियादि जो भेद हैं, वे तो पर्याय-अपेक्षा से तथा शरीरादि निमित्तों की अपेक्षा से है; किन्तु स्वभाव से तो सब जीव ज्ञायक ही हैं।—ऐसा कौन जानता है ?—जिसने अपने में ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि की हो, वह दूसरे जीवों को भी वैसे स्वभाववाला जानता है। व्यवहार से जीव के अनेक भेद हैं, किन्तु परमार्थ से सभी जीवों का ज्ञायकस्वभाव है,—ऐसा जो जान ले,

उसको व्यवहार के भेदों का ज्ञान सच्चा होता है। अज्ञानी तो व्यवहार को जानते हुए उसी को जीव का स्वरूप मान लेता है; इसलिये उस पर्यायबुद्धि से अनन्तानुबन्धी राग-द्वेष होता है; धर्मी को ऐसा राग-द्वेष नहीं होता।

(३९) 'क्रमबद्धपर्याय' और उनके चार दृष्टान्त

यहाँ आचार्य भगवान कहते हैं कि जीव की क्रमबद्धपर्यायरूप से जीव स्वयं उत्पन्न होता है और अजीव की क्रमबद्धपर्यायरूप से अजीव स्वयं उत्पन्न होता है, कोई किसी का कर्ता या बदलनेवाला नहीं है। पर्याय का लक्षण क्रमवर्तीपना है। क्रमवर्ती कहो या क्रमबद्ध कहो, या नियमबद्ध कहो; प्रत्येक द्रव्य अपनी व्यवस्थित क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है; आत्मा अपने ज्ञायकप्रवाह के क्रम में रहकर उसका ज्ञाता ही है।

(१) पर्याय क्रमवर्ती है, उस क्रमवर्तीपने का अर्थ 'पादविक्षेप' करते हुए पंचाध्यायी की १६७ वीं गाथा में कहते हैं कि—

''अस्त्यत्र यः प्रसिद्धः क्रम इति धातुश्च पादविक्षेपे।
क्रमति क्रम इति रूपस्तस्य स्वार्थानतिक्रमादेषः॥''

'क्रम' धातु है, वह 'पादविक्षेप' ऐसे अर्थ में प्रसिद्ध है, और अपने अर्थ अनुसार 'क्रमति इति क्रमः'—ऐसा उसका रूप है।

'पादविक्षेप' अर्थात्—जब मनुष्य चलता है, तब उसका दायाँ और बायाँ पैर एक के बाद एक क्रमशः उठता है; दायें के बाद बायाँ और बायें के बाद दायाँ—ऐसा जो चलने का पादक्रम है, वह उल्टा-सीधा नहीं होता; उसीप्रकार जीव-अजीव द्रव्यों का परिणमन भी क्रमबद्ध होता है; उनकी पर्यायों का क्रम उल्टा-सीधा नहीं होता। इसप्रकार 'क्रमबद्धपर्याय' के लिये एक दृष्टान्त तो 'पादविक्षेप' का अर्थात् चलने के प्राकृतिक क्रम का है।

(२) दूसरा दृष्टान्त नक्षत्रों का है, वह प्रकृति का है। प्रमेयकमलमार्तण्ड (३-१८) में 'क्रमभाव' के लिये नक्षत्रों का दृष्टान्त दिया है। जिसप्रकार कृतिका, रोहिणी मृगशीर्ष... आदि सभी नक्षत्र क्रमबद्ध ही हैं; वर्तमान में 'रोहिणी' नक्षत्र उदयरूप हो तो, उसके पहले 'कृतिका' नक्षत्र ही था, और अब 'मृगशीर्ष' नक्षत्र ही आयेगा, —ऐसा निर्णय हो सकता है। यदि नक्षत्र-क्रमबद्ध ही न हों तो, पहले कौन-सा नक्षत्र था और अब कौन-सा नक्षत्र आयेगा, उसका निर्णय हो ही नहीं सकता। उसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य में उसकी तीनों काल की पर्यायें निश्चित् क्रमबद्ध ही हैं; यदि द्रव्य

की क्रमबद्धपर्यायें निश्चित् न हों तो ज्ञान तीनकाल का किस प्रकार जानेगा? आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, और ज्ञान में सर्वज्ञता की शक्ति है—ऐसा निर्णय करे तो उसमें क्रमबद्धपर्याय की स्वीकृति आ ही जाती है। जो क्रमबद्धपर्याय को स्वीकार नहीं करता, उसे ज्ञानस्वभाव का या सर्वज्ञ का यथार्थ निर्णय नहीं हुआ।

(३) क्रमबद्धपर्याय के लिये तीसरा दृष्टान्त नक्षत्रों की भाँति 'सात वारों' का है। जिसप्रकार सात वारों में रवि के बाद सोम, और उसके बाद मंगल... बुध... गुरु... शुक्र... शनि—इसप्रकार क्रमानुसार ही आते हैं। रवि के बाद सीधा बुध और बुध के बाद शनि कभी नहीं आता। भिन्न-भिन्न देशों या भिन्न-भिन्न भाषाओं में सात वारों के नाम भले ही अलग-अलग बोले जाते हों, किन्तु सात वारों का जो क्रम है, वह तो सर्वत्र एक-सा ही है; सब देशों में रवि के बाद सोमवार ही आता है, और सोमवार के पश्चात् मंगलवार ही आता है। रविवार के बाद बीच में सोमवार आये बिना सीधा मंगलवार आ जाये—ऐसा कभी किसी देश में नहीं होता। उसीप्रकार द्रव्य की जो क्रमबद्धपर्याय है, वह कभी किसी द्रव्य में उल्टी-सीधी नहीं होती। सात वारों में जिस वार के पश्चात् जिस वार का क्रम होता है, वही वार आता है; उसीप्रकार द्रव्य में जिस पर्याय के पश्चात् जिस पर्याय का क्रम (स्वकाल) होता है, वही पर्याय होती है। यह ज्ञायक जीव अपने ज्ञायकपने को भूलकर उसमें फेरफार करना चाहे तो मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि वह पर में कर्तृत्व मानकर उसे बदलना चाहता है। मैं ज्ञाता हूँ—इसप्रकार ज्ञायकसन्मुख परिणमित न होकर रागादि का कर्ता होकर परिणमित होता है; वह जीव क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता नहीं है। क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता तो ज्ञायकसन्मुख रहकर रागादि को भी जानता ही है। उसे स्वभावसन्मुख परिणमन में शुद्ध पर्याय ही होती जाती है।

(४) 'क्रमबद्धपर्याय' का चौथा दृष्टान्त है—माता के मोती का। जिसप्रकार १०८ मोतियों की माला में प्रत्येक मोती का क्रम नियमित है; किसी मोती का क्रम इधर-उधर नहीं होता; उसीप्रकार द्रव्य की अनादि-अनन्त पर्यायमाला—पर्यायों की पंक्ति—है, उसमें प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध है; कोई पर्याय इधर-उधर नहीं होती। (देखो, प्रवचनसार गाथा ९९ टीका)

देखो, यह वस्तुस्वरूप!

(४०) हे जीव! तू ज्ञायक को लक्ष में लेकर विचार कर

भाई! यह समझने के लिये कहीं बड़े-बड़े न्यायशास्त्रों का अध्ययन करना पड़े, ऐसा नहीं है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, उसे लक्ष में लेकर तू विचार कर कि इस ओर मैं ज्ञायक हूँ—मेरा

सर्वज्ञस्वभाव है,—तो सामने ज्ञेयवस्तु की पर्याय क्रमबद्ध ही होगी या अक्रमबद्ध? अपने ज्ञानस्वभाव को सामने रखकर विचार करे तो यह क्रमबद्धपर्याय की बात सीधी जम जाये ऐसी है; किन्तु ज्ञायकस्वभाव को भूलकर विचार करे तो एक भी वस्तु का निर्णय नहीं हो सकता। निर्णय करनेवाला तो ज्ञायक है, उस ज्ञायक के ही निर्णय बिना पर का या क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करेगा कौन? 'मैं ज्ञायक हूँ'—इसप्रकार स्वभाव में एकता करके साधकजीव ज्ञायकस्वभावरूप ही उत्पन्न होता है। जिसकी मुख्यता है, उसी का कर्ता-भोक्ता है। ज्ञानी को राग की मुख्यता नहीं है; इसलिये उसका कर्ता-भोक्ता नहीं है। राग को गौण करके, व्यवहार मानकर अभूतार्थ कहा; इसलिये ज्ञानी रागरूप से उत्पन्न होता ही नहीं। इसप्रकार अभेद की बात है—ज्ञायक में अभेद हुआ, वह ज्ञान-आनन्द-श्रद्धादिरूप ही उत्पन्न होता है; राग में अभेद नहीं है, इसलिये वह रागरूप से उत्पन्न ही नहीं होता। श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र-आनन्दादि के निर्मल क्रमबद्धपरिणामरूप ही ज्ञानी उत्पन्न होता है।

(४१) क्रमबद्धपना किस प्रकार से है?

यहाँ 'क्रमबद्धपरिणाम' कहा जाता है, उसका क्या अर्थ? पहले एक गुण परिणमित होता है, फिर दूसरा और उसके बाद तीसरा—ऐसा क्रमबद्धपरिणाम का अर्थ नहीं है। अनन्त गुण हैं, वे कहीं एक के बाद एक परिणमित नहीं होते। गुण तो सब एकसाथ ही परिणमित होते हैं; इसलिये अनन्त गुणों के अनन्त परिणाम एकसाथ हैं; किन्तु यहाँ तो गुणों के परिणाम एक के बाद एक (ऊर्ध्वक्रम से) उत्पन्न होते हैं, उसकी बात है। गुण सहभावरूप—एकसाथ—हैं; किन्तु पर्यायें क्रमभावरूप—एक के बाद एक—हैं। एक के बाद एक होने के उपरांत वह प्रत्येक पर्याय स्वकाल में नियमित—व्यवस्थित है।—यह बात लोगों को जमती नहीं है और फेरफार करना-पर का कर्तृत्व-मानते हैं। आचार्य प्रभु समझाते हैं कि भाई! ज्ञायकस्वभाव तो सबको जानता है या किसी को बदल देता है? अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करके तू स्वोन्मुख हो जा और पर को बदलने की मिथ्याबुद्धि छोड़ दे।

(४२) * ज्ञान और ज्ञेय की परिणमनधारा;
*** केवली भगवान के दृष्टान्त से साधकदशा की समझ**

केवलज्ञानी भगवान को परिपूर्ण स्व-परप्रकाशकभाव परिणमित हो रहा है और सामने सम्पूर्ण ज्ञेय ज्ञात हो गया है। सारे ज्ञेय क्रमबद्ध परिणमित हो रहे हैं और यहाँ पूर्ण ज्ञान तथा उसके

साथ पूर्ण आनन्द, वीर्यादि क्रमबद्ध परिणमित हो रहे हैं। ज्ञान और ज्ञेय दोनों व्यवस्थित-क्रमबद्ध परिणमित हो रहे हैं, तथापि कोई किसी को बदलता नहीं है, किसी के कारण कोई नहीं है।

ज्ञेयों में पहले समय जो वर्तमानरूप है, वह दूसरे समय भूतरूप हो जाता है और भविष्य, उस वर्तमानरूप हो जाता है; इसप्रकार ज्ञान की पर्यायें भी बदलती हैं, परन्तु ज्ञान तो भूत-भविष्य और वर्तमान तीनों को एकसाथ जानता है, वह कहीं क्रम से नहीं जानता। यहाँ पूरा ज्ञायकभाव और सामने सब ज्ञेय—इसप्रकार ज्ञान और ज्ञेय की परिणमनधारा चली जाती है, उसमें बीच में भगवान को रागादि नहीं आते। यहाँ केवलीभगवान का उदाहरण देकर ऐसा समझाना है कि—जिसप्रकार भगवान अकेले ज्ञायकभावरूप ही परिणमित होते हैं; उसीप्रकार साधक ज्ञानी भी अपने ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से ज्ञायकभावरूप ही परिणमित होते हैं; उनका ज्ञान, राग को ज्ञेयरूप से जानना है लेकिन राग के अवलम्बन से प्रवर्तित नहीं होता। 'भगवान का केवलज्ञान लोकालोक का अवलम्बन लेकर प्रवर्तित होता है'—ऐसा कहा जाता है, किन्तु वह तो ज्ञान के परिपूर्ण सामर्थ्य की विशालता बतलाने के लिये कहा है; केवलज्ञान में कहीं पर का अवलम्बन नहीं है। उसीप्रकार साधक के ज्ञान में अपने ज्ञायकस्वभाव के सिवा अन्य किसी का अवलम्बन नहीं है।

केवलीभगवान को रागादिरूप व्यवहार रहा ही नहीं है; साधक को भूमिकानुसार अल्प रागादि हैं, वे व्यवहारज्ञेयरूप से हैं; इसलिये कहा है कि 'व्यवहार जाना हुआ उस काल में प्रयोजनवान है' किन्तु साधक को उस व्यवहार का अवलम्बन नहीं है; अवलम्बन तो अन्तर के परमार्थभूत ज्ञायकस्वभाव का ही है। स्व-परप्रकाशक ज्ञानसामर्थ्य में उस-उस काल का व्यवहार और निमित्त ज्ञेयरूप से हैं।

(४३) 'जीव' कैसा ? और जीव की प्रभुता काहे में ?

यहाँ स्वभाव के साथ अभेद होकर जो परिणाम उत्पन्न हुए, उन्हीं को जीव कहा है; रागादि में अभेद होकर वास्तव में ज्ञानी जीव उत्पन्न नहीं होता। ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से जो निर्मल परिणाम उत्पन्न हुए, वे जीव के साथ अभेद हैं; इसलिये वे जीव हैं, उनमें राग का या अजीव का अवलम्बन नहीं है; इसलिये वे अजीव नहीं हैं।

देखो, यह जीव की प्रभुता! प्रभो! अपनी प्रभुता में तू है,—राग में या अजीव में तू नहीं है। तेरी प्रभुता तेरे ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन में है, अजीव के अवलम्बन में तेरी प्रभुता नहीं है; अपने ज्ञायकभाव के परिणमन में तेरी प्रभुता है, राग के परिणमन में तेरी प्रभुता नहीं है। कोई

भगवान जगत के नियामक हैं—यह बात तो झूठ है, किन्तु तेरा ज्ञानस्वभाव स्व-पर का निश्चायक है-निश्चय करनेवाला है-ज्ञाता है। ज्ञेय की क्रमबद्ध अवस्था के कारण यहाँ वैसा परिणमन होता है-ऐसा भी नहीं है; और ज्ञान के कारण ज्ञेयों का क्रमबद्ध परिणमन होता है-ऐसा नहीं है।

(४४) 'पर्याय-पर्याय में ज्ञायकपने का ही काम'

देखो, ग्राम का स्टेशन बाजार से बिलकुल निकट है। दो मिनट में स्टेशन पहुँचा जा सके—इतने निकट है। कभी गाड़ी में जाना हो, और घर भोजन करने बैठे हों, वहाँ गाड़ी की सीटी सुनाई दे। पहले धीरे-धीरे भोजन कर रहे हों और गाड़ी आने की सूचना मिलते ही जल्दी खाने की इच्छा हो जाये तथा कौर भी जल्दी से उठने लगें; तथापि सब क्रमबद्ध अपने-अपने कारण ही है।

—गाड़ी आई, इसलिये ज्ञान हुआ-ऐसा नहीं है, और

—ज्ञान के कारण गाड़ी नहीं आई है।

—गाड़ी आने का ज्ञान हुआ, इसलिये उस ज्ञान के कारण जल्दी खाने की इच्छा हुई—ऐसा भी नहीं है;

—ज्ञान के कारण या इच्छा के कारण खाने की क्रिया में शीघ्रता आई-ऐसा भी नहीं है।

—प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्ररूप से अपनी-अपनी क्रमबद्ध योग्यतानुसार परिणमित होता है,—ऐसा समझे तो ज्ञायकत्व हुए बिना न रहे।

इसी प्रकार, कोई मनुष्य घूमने जाये और धीरे-धीरे चल रहा हो, किन्तु जहाँ पानी बरसना प्रारम्भ हो कि एकदम तेजी से पैर उठने लगते हैं—इसमें भी उपरोक्त दृष्टान्त की भाँति जीव-अजीव के परिणमन की स्वतंत्रता समझ लेना चाहिये और इसी प्रकार सर्वद्ध समझना चाहिये। लोक में कहावत है कि—''दाने-दाने पर खानेवाले का नाम;'' उसी प्रकार यहाँ ''पर्याय-पर्याय में स्वकाल का नाम'' है; और आत्मा में ''पर्याय-पर्याय में ज्ञायकपने का ही काम'' हो रहा है। किन्तु मूढ़ जीव विपरीत दृष्टि से पर का कर्तृत्व मानता है।

(४५) मूढ़ जीव मुँह आये वैसा बकता है

शरीर की बात आये वहाँ अज्ञानी कहता है कि—'जीव के बिना कहीं शरीर की क्रिया हो सकती है ? जीव हो तभी शरीर की क्रिया होती है।' इसका अर्थ यह हुआ कि जीव हो तो अजीव के परिणाम होते हैं, यानी अजीव में तो मानों कुछ शक्ति ही न हो !—ऐसा मूढ़ मानता है।

और जहाँ कर्म की बात आये वहाँ वह अज्ञानी ऐसा कहता है कि—' भाई ! कर्म का जोर है;

कर्म, जीव को विकार कराते हैं और कर्म ही उसको भटकाते हैं!'—अरे भाई! अजीव में बल तो नहीं था, फिर कहाँ से आ गया? कर्म जीव को बलात् परिणमित कराते हैं;—यानी जीव में स्वाधीन परिणमन करने की तो मानो कोई शक्ति ही न हो—ऐसा वह मूढ़ मानता है। जीव-अजीव की स्वतंत्रता के भान बिना अज्ञानी क्षण में इधर और क्षण में उधर, जैसा मुँह आये वैसा बकते हैं।

(४६) अज्ञानी की बिलकुल विपरीत बात; ज्ञानी की अपूर्व दृष्टि

पुनश्च, थर्मामीटर का दृष्टान्त देकर कोई ऐसा कहते हैं कि—जितना बुखार हो, उतना ही थर्मामीटर में आता है; उसीप्रकार जितना उदय हो, तदनुसार ही विकार होता है।—यह बात भी झूठी है। भाई! तेरी दृष्टि विपरीत है और तेरा दृष्टान्त भी उलटा है। किसी समय १०५ डिग्री बुखार हो, तथापि थर्मामीटर में उतना नहीं आता। उसी प्रकार उदयानुसार ही जीव को विकार हो—ऐसा कभी होता ही नहीं।

'उदयानुसार ही विकार होता है'—यह बात तो महान स्थूल-विपरीत है। किन्तु जीव स्वयं विकार करके उदय को निमित्त बनाये-यह बात भी यहाँ नहीं है। जो अज्ञानी जीव, विकार का कर्ता होता है, उसी को कर्म के साथ सम्बन्ध है, किन्तु ज्ञानी तो ज्ञायकभावरूप ही परिणमित होते हैं, ज्ञायकभाव में कर्म के साथ सम्बन्ध ही नहीं है—ऐसा ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि करके स्वसन्मुख ज्ञातारूप से परिणमित होना ही अपूर्व धर्म है और वह जीव वास्तव में अकर्ता है। अकर्तापनेरूप अपना जो ज्ञायकभाव है, उसका वह कर्ता है, किन्तु राग का या कर्म का कर्ता नहीं है।

(४७) मूर्ख....

देखो, शास्त्र में ऐसा आता है कि—'कत्थवि बलिओ जीवो, कत्थवि कम्माइ हुंति बलियाइ.... अर्थात् कभी जीव बलवान होता है और कभी कर्म बलवान हो जाते हैं';—किन्तु अज्ञानी उसका आशय नहीं समझते और विपरीत मानते हैं। जीव ने पुरुषार्थ नहीं किया, तब निमित्त से कर्म को बलवान कहा, परन्तु कर्म का उदय ही जीव को जबरन राग-द्वेषरूप परिणमित करता है—ऐसा जो मानता है, उसे तो पं० बनारसीदासजी नाटक समयसार में 'मूर्ख' कहते हैं—

कोऊ मूरख यों कहै, राग दोष परिनाम।
पुग्गल की जोरावरी बरतै आतमराम॥६२॥

(४८) विपरीत मान्यता का जोर! (उसके चार उदाहरण)

(१) विपरीत दृष्टि ही जीव को सीधा नहीं समझने देती। देखो, 'उदयानुसार विकार होता

है'—ऐसा माननेवाले को भी उदयानुसार तो विकार होता ही नहीं; उसके शास्त्रस्वाध्यायादि में (भले ही विपरीत दृष्टिपूर्वक) मन्दराग तो वर्तता है; ज्ञान में भी इसी प्रकार आता है; कर्म के उदयानुसार विकार होता है—ऐसा कहीं उसके ज्ञान में तो ज्ञात नहीं होता, तथापि उसकी विपरीत दृष्टि का बल उसे ऐसा मनाता है कि 'उदयानुसार विकार होता है।' उसकी विपरीत मान्यता में मिथ्यात्व का इतना जोर पड़ा है कि अनन्ता उदय आये तो मुझे वैसा होना पड़ेगा—ऐसा उसका अभिप्राय वर्तता है; इसलिये उसमें तीव्र मिथ्यात्व सहित निगोददशा की ही आराधना का जोर पड़ा है।

(२) इसी प्रकार, विपरीत दृष्टि का दूसरा उदाहरण:—स्थानकवासी के तेरापन्थी लोग असंयमी के प्रति दया-दानादि भावों को भी पाप मानते हैं। किसी जीव के बचाने का या दानादि का भाव हो, तब उसे अपने को कोमल परिणामरूप शुभभाव है; उस समय उसके ज्ञान में भी ऐसा ही ख्याल आता है कि यह कुछ शुभपरिणाम है; उस समय ज्ञान में कहीं ऐसा ख्याल नहीं आता कि 'यह पाप-परिणाम है', किन्तु विपरीत श्रद्धा का जोर ऐसा है कि अपने को शुभभाव होने पर भी उसे पाप मनाती है। दया-दान को पाप माननेवाले तेरापंथी को भी दया-दान के समय कहीं पापभाव नहीं है; तथापि विपरीत दृष्टि के कारण वह उसे पाप मानता है।

(३) इसी प्रकार तीसरा उदाहरण:—जिनप्रतिमा के दर्शन-पूजन-भक्ति आदि में शुभभाव है; तथापि स्थानकवासी उसे पाप मानते हैं; जिनप्रतिमा के दर्शनादि में शुभभाव होते हैं तथापि, और ज्ञान में भी उस समय 'यह शुभ है'—ऐसा आने पर भी, विपरीत मान्यता का जोर उस शुभ को भी पाप मनाता है।

(४) एक चौथा उदाहरण यह है कि—दया, पूजा या व्रतादि का भाव शुभराग है, वह कहीं धर्म नहीं है; तथापि मिथ्यादृष्टि की विपरीत मान्यता उसे धर्म मानती है। उस शुभराग के समय अज्ञानी को भी ज्ञान में तो ऐसा आया है कि—'यह राग हुआ,' किन्तु धर्म हुआ—ऐसा कहीं ज्ञान में नहीं आया है; अर्थात् राग के समय उस राग का ही ज्ञान हुआ है; तथापि विपरीत दृष्टि के कारण वह राग को धर्म मानता है। राग से धर्म माननेवाले को स्वयं भी राग से कहीं धर्म नहीं हो जाता, तथापि विपरीत मान्यता का जोर उसे इस प्रकार मनाता है।

—वह विपरीत मान्यता कैसे दूर हो?—यह बात आचार्यदेव समझाते हैं।

(४९) ज्ञायक सन्मुख हो!—यह जैनमार्ग है

हे भाई! एक बार तू स्वसन्मुख हो और ज्ञायकस्वभाव को प्रतीति में लेकर श्रद्धा-ज्ञान को

सच्चा बना ले, तो तुझे सब सीधा-सच्चा भासित होगा और तेरी विपरीत मान्यता दूर हो जायेगी। उपयोग को अन्तरोन्मुख करके 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसा जब तक वेदन न हो, तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता और विपरीत मान्यता भी नहीं टलती। बस! ज्ञान को अन्तरोन्मुख करके आत्मा में एकाग्र किया, उसमें सम्पूर्ण मार्ग का समावेश हो गया, सारा जैनशासन उसमें आ गया।

●●

तीसरा प्रवचन

[आश्विन शुक्ला ९, वीर सं० २४८०]

(५०) सम्यग्दृष्टि-ज्ञाता क्या करता है?

'सर्वविशुद्धज्ञान' कहो या अभेदरूप से ज्ञानात्मक शुद्ध द्रव्य कहो-उसका यह अधिकार है। शुद्ध ज्ञायकद्रव्य की दृष्टि से सम्यग्ज्ञानी को ज्ञान में क्या-क्या होता है, उसका यह वर्णन है। सम्यग्दर्शन अर्थात् शुद्ध आत्मा का ज्ञान होने पर, जीव क्या करता है?—अथवा सम्यग्दृष्टि ज्ञानी का क्या कार्य है? वह यहाँ समझाते हैं।

तत्त्वार्थश्रद्धान, वह सम्यग्दर्शन है; सात तत्त्वों में जीवतत्त्व ज्ञायकस्वरूप है। मैं ज्ञायकस्वरूप जीव हूँ—ऐसा जाननेवाला सम्यक्त्वी पर्याय-पर्याय में ज्ञाताभावरूप ही उत्पन्न होता है; इसलिये ज्ञातृत्व का ही कार्य करता है। ज्ञाता स्वयं प्रतिक्षण अपने को जानता हुआ उत्पन्न होता है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से उत्पन्न होनेवाला ज्ञायक, ज्ञातादृष्टापने का ही कार्य करता है; उस क्षण वर्तते हुए राग का वह ज्ञायक है किन्तु उसका कर्ता नहीं है। ज्ञाता उस काल वर्तते हुए रागादि को-व्यवहार को जानता है, वह राग के कारण नहीं, किन्तु उस समय के अपने ज्ञान के कारण वह राग को भी जानता है। इसप्रकार ज्ञानी जीव अपने क्रमबद्ध ज्ञानपरिणामरूप से उत्पन्न होता है।

(५१) निमित्त का अस्तित्व कार्य की पराधीनता सूचित नहीं करता

अजीव भी अपनी क्रमबद्धपर्याय से स्वयं उत्पन्न होता है; कोई दूसरा उसका उत्पन्न

करनेवाला नहीं है। देखो, घड़ा होता है, वहाँ मिट्टी के परमाणु स्वयं उस पर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं; कुम्हार उन्हें उत्पन्न नहीं करता। कुम्हार ने घड़ा बनाया—ऐसा कहना तो मात्र निमित्त के संयोग का कथन है। 'निमित्त' कहीं नैमित्तिककार्य की पराधीनता नहीं बतलाता। एक वस्तु के कार्य के समय निमित्तरूप से दूसरी वस्तु का अस्तित्व हो, वह कहीं कार्य की पराधीनता नहीं बतलाता, किन्तु ज्ञान का स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य बतलाता है।

(५२) श्री रामचन्द्रजी के दृष्टान्त द्वारा धर्मात्मा के कार्य की समझ

जिस समय श्री राम-लक्षण-सीता वन में थे, तब वे हाथ से मिट्टी के बर्तन बनाकर उनमें भोजन बनाते थे। रामचन्द्रजी बलदेव थे और लक्ष्मण वासुदेव थे। वे महान चतुर, बहत्तर कला के ज्ञाता श्लाका पुरुष थे। जंगल में हाथ से मिट्टी के बर्तन बनाकर उनमें भोजन बनाते थे। 'राम ने बर्तन बनाये'—ऐसा कहा जाता है, किन्तु वास्तव में तो मिट्टी के परमाणु स्वयं उन बर्तनों की अवस्थारूप से उत्पन्न हुए हैं। रामचन्द्रजी तो आत्मज्ञानी थे, और उस समय भी वे अपने ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से ज्ञाताभावरूप ही उत्पन्न होते थे; मिट्टी की पर्याय को मैं उत्पन्न करता हूँ—ऐसा वे नहीं मानते थे; स्व-परप्रकाशक ज्ञानरूप से क्रमबद्ध उत्पन्न होते हुए उस समय के विकल्प को और बर्तन बनाने की क्रिया को जानते थे। ज्ञातारूप से ही उत्पन्न होते थे किन्तु राग के या जड़ की क्रिया के कर्तारूप से उत्पन्न नहीं होते थे। देखो, यह धर्मी का कार्य! ऐसी धर्मी की दशा है; इससे विपरीत माने तो वह अज्ञानी है, उसे धर्म के स्वरूप की खबर नहीं है।

(५३) आहारदान प्रसंग के दृष्टान्त से ज्ञानी के कार्य की समझ

सुगुप्ति और गुप्ति नाम के मुनियों का ऐसा अभिग्रह था कि राजकुमार हो, वन में हो और अपने ही हाथ से बनाये हुए बर्तन में विधिपूर्वक आहार दे तो वे आहार लेंगे। ठीक उसी समय राम-लक्ष्मण-सीता वन में थे; हाथ से बनाये हुए बर्तन में आहार बनाया था और ऐसी भावना कर रहे थे कि कोई मुनिराज पधारें तो उन्हें आहार दें; वहीं संयोगवशात् वे मुनिवर पधारे और उन्हें विधिपूर्वक पड़गाहन करके नवधाभक्तिपूर्वक आहारदान दिया। इस प्रकार मुनियों के अभिग्रह का प्राकृतिक संयोग मिल गया। ऐसा संयोग अपने आप हो जाता है, किन्तु ज्ञानी जानते हैं कि मैं तो ज्ञायक हूँ; यह आहार देने-लेने की क्रिया हुई, वह मेरा कार्य नहीं है; मुनिवरों के प्रति भक्ति का शुभभाव हुआ, वह भी वास्तव में ज्ञाता का कार्य नहीं है। रामचन्द्रजी ज्ञानी थे, उन्हें इस सबकी

खबर थी। आहारदान की बाह्य क्रिया के या उस ओर के विकल्प के, परमार्थ से ज्ञानी कर्ता नहीं हैं; उस समय अन्तर में ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से प्रतिक्षण ज्ञान-श्रद्धा-आनन्दादि की पर्याय का स्वयं अपने को दान देता है; उस दान में स्वयं ही दान देनेवाला है और स्वयं ही लेनेवाला। निर्मल पर्यायरूप से उत्पन्न हुआ, उसका कार्त भी स्वयं, और सम्प्रदान भी स्वयं। ज्ञान-आनन्द की पंक्ति के सिवा रागादि का या पर की पर्याय का आत्मा ज्ञाता है, किन्तु कर्ता नहीं है; अपनी निर्मल ज्ञान-आनन्ददशा का ही ज्ञानी कर्ता है।

छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए सन्त-मुनिवरों को देखकर ज्ञानी कहें कि—"हे नाथ! पधारो... पधारो!! मनशुद्धि-वचनशुद्धि-कायशुद्धि-आहारदशुद्धि... हे प्रभो! हमारे आंगन को पावन कीजिये! हमारे आँगन में आज कल्पवृक्ष फले, हमें जंगल में मंगल हुआ।"—तथापि उससमय ज्ञानी उस भाषा के और राग के कर्तारूप से परिणमित नहीं होते, किन्तु ज्ञायकपने की ही क्रमबद्धपर्याय के कर्तारूप से परिणमित होते हैं। अज्ञानियों को यह बात बैठना कठिन होता है।

(५४) रामचन्द्रजी के वनवास के दृष्टान्त द्वारा ज्ञानी के कार्य की समझ

राजगद्दी के बदले रामचन्द्रजी को वनवास हुआ,—तो क्या वह अक्रमबद्ध हुआ? अथवा राजगद्दी का क्रम था, किन्तु कैकेयी माता के कारण वह बदल गया-ऐसा है?-नहीं; माता-पिता के या किसी ओर के कारण वनवास की अवस्था हुई—ऐसा नहीं है; तथा अवस्था का क्रम बदल गया —ऐसा भी नहीं है। रामचन्द्रजी जानते थे कि मैं तो ज्ञान हूँ; इस समय ऐसा ही क्षेत्र मेरे ज्ञान के ज्ञेयरूप से होगा;—ऐसा ही स्वपरप्रकाशकशक्तिरूप से मेरी ज्ञानपर्याय उत्पन्न हुई है। राजभवन में होऊँ या वन में होऊँ, किन्तु मैं तो स्व-परप्रकाशक ज्ञायकरूप से ही उत्पन्न होता हूँ। राजमहल भी ज्ञेय है और यह वन भी मेरे ज्ञान का ज्ञेय है; इस समय इस वन को जाने—ऐसी ही मेरी ज्ञान की स्व-परप्रकाशकशक्ति विकसित हुई है। इस प्रकार ज्ञानी को ज्ञायकदृष्टि नहीं छूटती; ज्ञायकदृष्टि में वे निर्मल ज्ञानपर्यायरूप ही उत्पन्न होते हैं।

(५५) ज्ञानी ज्ञाता रहता है; अज्ञानी राग का कर्ता होता है और पर को बदलना चाहता है

मैं ज्ञायक हूँ—ऐसी दृष्टि करके ज्ञातारूप से न रहकर अज्ञानी, रागादि का कर्ता होकर पर के क्रम को बदलने जाता है। उसे अभी राग करना है और पर को बदलना है; किन्तु ज्ञातारूप से नहीं रहना है; उसे ज्ञातृत्व नहीं जमता, इसलिये उसे ज्ञान के प्रति क्रोध है; तथा पर के क्रमबद्धपरिणमन

पर (वस्तु के स्वभाव पर) द्वेष है; इसलिये उसके क्रम को बदलना चाहता है—इस प्रकार यह मिथ्यादृष्टि के अनन्त राग-द्वेष हैं। अमुक समय अमुक प्रकार का राग बदलकर उसके बदले ऐसा ही राग करूँ—इस प्रकार जो हठ करके राग को बदलना चाहता है, उसे भी राग के साथ एकत्वबुद्धि से मिथ्यात्व होता है। भूमिका अनुसार जो राग होता है उसे साधक जानते हैं; उस राग को ज्ञान का ज्ञेय बना देते हैं, किन्तु उसे ज्ञान का कार्य नहीं बनाते और राग होने पर ज्ञान में शंका भी नहीं पड़ती। हठपूर्वक राग को बदलने जाये तो उसे उस समय के (राग को भी जाननेवाले) स्व-परप्रकाशक ज्ञान की प्रतीति नहीं है; इसलिये ज्ञान पर ही द्वेष है। ज्ञानी तो ज्ञायकदृष्टि के बल में ज्ञातारूप से ही उत्पन्न होते हैं, रागरूप से उत्पन्न नहीं होते; राग के भी ज्ञातारूप से उत्पन्न होते हैं किन्तु उसके कर्तारूप से उत्पन्न नहीं होते। सम्यग्दृष्टि का ऐसा कार्य है। अज्ञानी तो ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति न रखकर, पर्यायमूढ़ होकर पर्याय को बदलना चाहता है; अथवा परज्ञेयों के कारण ज्ञान मानता है; इसलिये वह ज्ञेयों को जानते हुए उन्हीं में राग-द्वेष करके अटक जाता है, किन्तु इधर ज्ञायकस्वभाव की ओर नहीं ढलता।

(५६) जैन के वेष में बौद्ध

* बौद्धमती ऐसा कहते हैं कि – 'ज्ञेयों के कारण ज्ञान होता है; सामने घड़ा हो तो यहाँ घड़े का ही ज्ञान होता है। घड़े के समय घड़े का ही ज्ञान होता है, किन्तु 'यह हाथी है'—ऐसा ज्ञान नहीं होता; इसलिये ज्ञेय के कारण ही ज्ञान होता है।' किन्तु उनकी यह बात मिथ्या है। ज्ञेयों के कारण ज्ञान नहीं होता, किन्तु सामान्यज्ञान स्वयं ही विशेषज्ञानरूप परिणमित होकर जानता है; इसलिये ज्ञान की अपनी ही वैसी योग्यता से घड़े आदि का ज्ञान होता है; उस ज्ञान के समय घड़ा आदि ज्ञेय तो मात्र निमित्त है।—ऐसा युक्तिपूर्वक सिद्ध करके, अकलंकदेव आचार्यादि महान संतों ने, 'ज्ञेयों के कारण ज्ञान होता है'—यह बात उड़ा दी है। उसके बदले आज जैन नाम धारण करनेवाले कुछ विद्वान भी ऐसा मानते हैं कि 'निमित्त के कारण ज्ञान होता है, निमित्त के कारण कार्य होता है'—तो वे भी बौद्धमती जैसे मिथ्यादृष्टि सिद्ध हुए; बौद्ध के और उनके अभिप्राय में कोई अन्तर न रहा।

* पुनश्च, जिस प्रकार ज्ञेय के कारण ज्ञान नहीं है; उसी प्रकार ज्ञान के कारण ज्ञेय की अवस्था हो—ऐसा भी नहीं है। जिस प्रकार ज्ञेय के कारण ज्ञान होना बौद्ध कहते हैं; उसी प्रकार जैन में भी यदि कोई ऐसा माने कि—'ज्ञान के कारण ज्ञेय की अवस्था होती है—जीव है, इसलिये घड़ा

होता है; जीव है, इसलिये शरीर चलता है; जीव है, इसलिये भाषा बोली जाती है'—तो यह मान्यता भी मिथ्या है। ज्ञान और ज्ञेय दोनों की अवस्था क्रमबद्ध स्वतंत्ररूप से अपने-अपने कारण ही हो रही है।

* और, राग भी व्यवहार से ज्ञाता का ज्ञेय है। जिस प्रकार ज्ञेय के कारण ज्ञान, या ज्ञान के कारण ज्ञेय नहीं है, उसी प्रकार राग के कारण ज्ञान या ज्ञान के कारण राग भी नहीं है। राग हो, वहाँ ज्ञान में भी राग ही ज्ञात होता है, वहाँ अज्ञानी को ऐसा भ्रम हो जाता है कि यह राग है; इसलिये उसके कारण राग का ज्ञान होता है; इसलिये राग से पृथक्—राग के अवलम्बन से रहित—ऐसा ज्ञान उसे भासित नहीं होता। मैं ज्ञायक हूँ और मेरे ज्ञायकस्वभाव में यह ज्ञान का प्रवाह आता है—ऐसी प्रतीति में ज्ञानी, राग का भी ज्ञाता ही रहता है।

(५७) सच्चा समझनेवाले जीव का विवेक कैसा होता है ?

प्रश्न : प्रत्येक वस्तु की क्रमबद्धपर्याय स्वयं अपने से ही होती है—ऐसी क्रमबद्धपर्याय की बात सुनेंगे तो लोग देव-गुरु-शास्त्र का बहुमान छोड़ देंगे; और जिन-मन्दिरादि नहीं बनवायेंगे।

उत्तर : अरे भाई! जो यह बात समझेगा, उसी को समझानेवाले का सच्चा बहुमान आयेगा। निश्चय से अपने ज्ञायकस्वभाव को जाना, तब क्रमबद्धपर्याय का ज्ञान सच्चा हुआ। ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख होकर क्रमबद्धपर्याय की अपूर्व बात जो समझा, उसे वह बात समझानेवाले वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र के प्रति भक्ति का भाव आये बिना नहीं रहेगा। 'मैं ज्ञायक हूँ'—इस प्रकार ज्ञायक की श्रद्धा करके जो क्रमबद्धपर्याय को जानेगा, वह अपनी भूमिका के राग को भी जानेगा। किस भूमिका में कैसा राग होता है और कैसे निमित्त होते हैं, उनका भी वह विवेक करेगा। यह तो जागृतमार्ग है, यह कहीं अंधमार्ग नहीं है। साधकदशा में राग होता है, किन्तु उस राग की वृत्ति कुदेवादि के प्रति नहीं जाती, किन्तु सच्चे देव-गुरु के बहुमान की ओर वृत्ति जाती है। जो सच्चा समझे, वह स्वच्छन्दी हो ही नहीं सकता; सच्ची समझ का फल तो वीतरागता है। वीतरागी देव-गुरु का बहुमान आने से बाह्य में जिनमन्दिर बनवाने आदि के भाव आते हैं, किन्तु बाह्य में तो उसके अपने काल में जैसा होने योग्य हो, वैसा होता है। इसी प्रकार अष्ट द्रव्यों से भगवान की पूजादि में भी समझ लेना चाहिये। उस काल वैसा राग होता है और उस समय ज्ञान भी वैसा ही जानता है;

तथापि उस ज्ञान के या राग के कारण बाह्यक्रिया नहीं होती। उस समय भी ज्ञानी जीव तो अपने ज्ञानभाव का ही कर्ता है।

ज्ञानभाव, जीवतत्त्व है;

राग, आस्रवतत्त्व है; और

बाह्य शरीरादि की क्रिया, अजीवतत्त्व है।

उसमें किसी के कारण कोई नहीं है। इस प्रकार प्रत्येक तत्त्व का भिन्न-भिन्न स्वरूप पहिचानना चाहिये, तभी सच्ची तत्त्वार्थश्रद्धा होती है।

(५८) अपनी पर्याय में ही अपना प्र-भाव है

कोई कहता है कि—आपके प्रभाव से यह सब रचना हुई!-यह सब तो विनय की भाषा है। वास्तव में 'प्रभाव' किसी का किसी पर नहीं है। सबकी पर्याय में अपना-अपना ही प्र-भाव (विशेष प्रकार से भवन) है। आत्मा अपने ज्ञानरूप विशेषभाव से परिणमित हो, उसी में उसका प्रभाव है; स्वयं अपने जिस निर्मल भावरूप से परिणमित हो, उसी में अपना प्रभाव है। किन्तु जीव का प्रभाव अजीव पर या अजीव का प्रभाव जीव पर नहीं है; प्रत्येक तत्त्व भिन्न-भिन्न है; एक का दूसरे में अभाव है; इसलिये किसी का प्रभाव दूसरे पर नहीं पड़ता। एक पर दूसरे का प्रभाव कहना, मात्र निमित्त का कथन है। (विशेष के लिये देखो, अंक ११९-२०, प्रवचन चौथा नं० १०८)

(५९) क्रमबद्ध के नाम पर मूढ़ जीव की गड़बड़ी

कुछ मूढ़ लोग ऐसी गड़बड़ी करते हैं कि—'पर्याय क्रमबद्ध जब होना हो, तब हो जाती है; इसलिये चाहे जिस वेष में और चाहे जिस दशा में मुनिपना आ जाता है।' किन्तु चाहे जैसे मिथ्या सम्प्रदाय को मानता हो और चाहे जैसे निमित्त में विद्यमान हो, तथापि क्रमबद्ध में मुनिपना या सम्यग्दर्शन आ जाये—ऐसा कभी होता ही नहीं। अरे भाई! क्रमबद्धपर्याय क्या वस्तु है, उसकी तुझे खबर नहीं है; सम्यग्दर्शन और मुनिपने की दशा कैसी होती है, उसकी भी तुझे खबर नहीं है। अन्तरंग ज्ञायकभाव में लीन होकर मुनिदशा हुई, वहाँ निमित्तरूप से जड़ शरीर की दशा नग्न ही होती है। अब यह बात प्रसिद्धि में आने से कुछ स्वच्छन्दी लोग क्रमबद्ध के शब्द पकड़कर बात करना सीखे हैं, किन्तु यदि क्रमबद्धपर्याय को यथार्थ समझें, तब तो निमित्त आदि चारों पक्षों का मेल बराबर मिलना चाहिये।

(६०) ज्ञायक और क्रमबद्ध का निर्णय करके स्वाश्रय का परिणमन हुआ, उसमें व्रत-प्रतिक्रमण आदि सारा जैनशासन आ जाता है

प्रश्न : इस क्रमबद्धपर्याय में व्रत-समिति-गुप्ति-प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-प्रायश्चित्त आदि कहाँ आये ?

उत्तर : जिसका ज्ञान पर से हटकर ज्ञायक में एकाग्र हुआ है, उसी को क्रमबद्धपर्याय का निर्णय है, और ज्ञायक में एकाग्र होकर परिणमित हुआ, उसमें व्रत-समिति आदि सब कुछ आ जाता है। ज्ञायकस्वभाव में ज्ञान की एकाग्रता-वह ध्यान है और उस ध्यान में निश्चय व्रत-तप-प्रत्याख्यानादि सबका समावेश हो जाता है। नियमसार की ११९ वीं गाथा में कहा है कि —

आत्मस्वरूपालम्बनभावेन तु सर्वभाव परिहारम्।
शक्नोति कर्तु जीवस्तस्माद् ध्यानं भवेत् सर्वम्॥११९॥

निज आत्मा का आश्रय करके ज्ञान एकाग्र हुआ, वह निश्चय धर्मध्यान है, और वह निश्चय धर्मध्यान ही सर्व परभावों का अभाव करने में समर्थ है; 'तम्हा झाण हवे सव्वं'—इसलिये ध्यान सर्वस्व है; शुद्ध आत्मा के ध्यान में सर्व निश्चय आचारों (पंचाचार) का समावेश हो जाता है।

जो आत्मा के ज्ञायकस्वभाव का और क्रमबद्धपर्याय का निर्णय नहीं करता, उसे कभी धर्मध्यान नहीं होता। ध्यान अर्थात् ज्ञान की एकाग्रता। ज्ञायक की ओर ढले नहीं, क्रमबद्धपर्याय को न जाने और पर में फेरफार करना माने—ऐसे जीव का ज्ञान, परसन्मुखता से हटकर स्व में एकाग्र होता ही नहीं, इसलिये उसे धर्मध्यान होता ही नहीं; पर में एकाग्रता द्वारा उसे तो विपरीत ध्यान होता है। ज्ञानी तो ज्ञायक का और क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करके ज्ञायक में ही एकाग्रदृष्टि से क्रमबद्ध ज्ञातारूप से ही परिणमित होता है। ज्ञायक में एकाग्रता का जो क्रमबद्धपरिणमन हुआ, उसमें निश्चय प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-सामायिक-व्रत-तपादि सब आ गया। ज्ञाता तो क्रमबद्ध अपने ज्ञायकभावरूप ही परिणमित होता है—ज्ञायक के अवलम्बन से ही परिणमित होता है; वहाँ निर्मल पर्यायें होती जाती हैं, बीच में जो व्यवहार परिणति होती है, उसे ज्ञान जानता है, किन्तु उसमें एकाग्र होकर प्रवर्तित नहीं होता; स्वभाव में एकाग्ररूप से वर्तता है और उसमें जैनशासन आ जाता है।

(६१) 'अभाव अतिभाव (विभाव), और समभाव'

ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से ही सच्चा समभाव होता है; उसके बदले जो संयोग के आश्रय से समभाव होना मनाये, उसे वस्तुस्वरूप की खबर नहीं है;—जैनशासन की खबर नहीं। कोई अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि—''गरीबों के पास वनादि का 'अ-भाव' है और धनवानों के पास उसका 'अति-भाव' है; इसलिये जगत में प्रतिद्वन्दता और क्लेश होता है; यदि अतिभाववाले अतिरिक्त का त्याग करके अभाववालों को दे दें तो 'समभाव' हो जाये और सबको शांति हो; इसलिये हम अणुव्रत का प्रचार करते हैं।''—यह सब अज्ञानी की संयोगदृष्टि की बातें हैं। क्लेश या समभाव क्या संयोग के कारण होता है ?—यह बात झूठी है। ज्ञायकस्वभाव से सभी जीव समान हैं; इसलिये ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में ही सच्चा 'समभाव' है; पर का आत्मा में 'अभाव' है; और जो 'विभाव' है, वह उपाधिभाव होने से त्यागनेयोग्य है। इसके सिवा बाह्य में 'अभाव, अतिभाव और समभाव' की बात तो संयोगदृष्टि की बात है, वह कहीं सच्चा मार्ग नहीं है।

इसी प्रकार 'वैभव कम हो तो खर्च घटे और खर्च घटे तो पाप कम हो'—यह भी बाह्यदृष्टि की बात है। निगोदिया जीवों के पास एक पाई का भी वैभव या खर्च नहीं है; तथापि वे जीव अनन्त पाप से महा दुःखी हो रहे हैं। कोई सम्यक्त्वी जीव चक्रवर्ती हो, छह खण्ड का राज्यवैभव हो और प्रतिदिन करोड़ों-अरबों का खर्च होता हो, तथापि उसके पाप अत्यल्प हैं, और वास्तव में तो अखण्ड चैतन्यवैभव की दृष्टि में उसे पाप नहीं है, वह ज्ञायकभावरूप ही उत्पन्न होता है; अल्प रागादि हैं, वे तो ज्ञेय में जाते हैं; उनमें एकतारूप से ज्ञानी उत्पन्न नहीं होते।

(६२) अज्ञानी विरोध की पुकार करते हैं तो भले करें; उससे उनकी मान्यता मिथ्या होगी, किन्तु वस्तुस्वरूप नहीं बदल सकता।

आत्मा अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अपनी पर्याय के साथ अनन्य है और पर के साथ अनन्य नहीं है—ऐसा अनेकान्त है; जीव अपनी पर्याय में तन्मय है; इसलिये उसका कर्ता है, और पर की पर्याय में तन्मय नहीं है, इसलिये उसका कर्ता नहीं है—ऐसा अनेकान्तस्वरूप है। आत्मा अपना करे और पर का भी करे—ऐसा अज्ञानी मानता है किन्तु वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है। वस्तु का अनेकान्तस्वरूप ही ऐसी पुकार कर रहा है कि आत्मा अपना ही करता है, पर का तीन काल में नहीं करता। अज्ञानी विरोध की पुकार करते हैं तो भले करें, किन्तु उससे कहीं वस्तुस्वरूप

नहीं बदल सकता। 'आप्तमीमांसा' गाथा ११० का टीका में कहते हैं कि—''वस्तु ही अपना स्वरूप अनेकान्तात्मक आप दिखावै है तो हम कहा करैं? वादी पुकारै है 'विरुद्ध है रे... विरुद्ध है...' तो पुकारो किछु निरर्थक पुकारने में साध्य है नहीं।''—वस्तु ही स्वयं अपना स्वरूप अनेकान्तात्मक दिखलाती है तो हम क्या करें? वादी-अज्ञानी पुकारते हैं कि 'विरुद्ध है रे... विरुद्ध है'—तो भले पुकारो; उनकी निरर्थक पुकार से कुछ साध्य नहीं है। अज्ञानी विरोध की पुकार करें तो उससे कहीं वस्तुस्वरूप बदल नहीं जायेगा। प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप स्वचतुष्टयरूप है और पर के चतुष्टयरूप वह नहीं है;—ऐसा ही उसका अनेकान्तस्वरूप है। पर के चतुष्टयरूप से आत्मा अभावरूप है, तो पर में वह क्या करेगा? अज्ञानी चिल्ल-पों मचाते हैं तो भले मचायें; किन्तु वस्तुस्वरूप तो ऐसा ही है। उसी प्रकार इस क्रमबद्धपर्याय के सम्बन्ध में भी अज्ञानी अनेक प्रकार से विरुद्ध मानते हैं; वे विरुद्ध मानते हैं तो भले मानें; उससे उनकी मान्यता मिथ्या होगी, किन्तु वस्तुस्वरूप तो जो है, वही रहेगा; वह नहीं बदल सकता। ज्ञायक आत्मा एक साथ तीनकाल-तीनलोक को सम्पूर्णतया जानता है और जगत के समस्त पदार्थ क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होते हैं—ऐसा जो वस्तुस्वरूप है, वह किसी से नहीं बदला जा सकता। ज्ञानी ऐसा वस्तुस्वरूप जानकर, ज्ञायकसन्मुख ज्ञानभावरूप से उत्पन्न होते हैं, अज्ञानी विपरीत मानकर मिथ्यादृष्टि होता है।

●●

चौथा प्रवचन

[आश्विन शुक्ला १०, वीर सं० २४८०]

(६३) क्रमबद्धपर्याय में ज्ञायकसन्मुख निर्मल परिणमन की धारा प्रवाहित हो-उसी की मुख्य बात है

इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में मुख्य बात यह है कि-अपने ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर जो विशुद्ध परिणाम उत्पन्न हुए, उन्हीं की इसमें मुख्यता है; क्रमबद्धपरिणाम में ज्ञानी को निर्मल परिणाम ही होते हैं। ज्ञानी स्वसन्मुख होकर श्रद्धा-ज्ञान-आनन्दादि के निर्मल परिणमन की नियत

धारा में परिणमित होता है, उसको क्रमबद्धपर्याय में शुद्धता प्रवाह चलता रहता है।

समस्त पदार्थों में मुख्य तो आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, क्योंकि ज्ञान ही स्व-पर को जानता है। ज्ञानस्वभाव न हो तो स्व-पर को जानेगा कौन? इसलिये ज्ञानस्वभाव ही मुख्य है। ज्ञानस्वभाव के निर्णय में सात तत्त्वों का तथा देव-गुरु-शास्त्र का और क्रमबद्धपर्याय का निर्णय समा जाता है। यहाँ लोकालोक को जानने के सामर्थ्यरूप से ज्ञान परिणमित होता है और सामने लोकालोक ज्ञेयरूप से क्रमबद्ध परिणमित होते हैं; ऐसा ज्ञेय-ज्ञायक का मेल है, किन्तु किसी के कारण कोई नहीं है। सब अपने-अपने क्रमबद्धप्रवाह में स्वयं परिणमित हो रहे हैं।

(६४) ज्ञायकभाव के क्रमबद्धपरिणमन में सात तत्त्वों की प्रतीति

अपने क्रमबद्ध होनेवाले परिणामों के साथ तन्मय होकर प्रत्येक द्रव्य प्रतिसमय परिणमित हो रहा है; द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव चारों प्रतिसमय नई-नई पर्यायरूप से परिणमित हो रहे हैं। स्वस्वभावसनमुख परिणमित आत्मा अपने ज्ञाताभाव के साथ अभेद है और राग से पृथक् है—ऐसे आत्मा की प्रतीति जीवतत्त्व की सच्ची प्रतीति है।

मेरा ज्ञायक आत्मा ज्ञायकभावरूप से क्रमबद्ध उत्पन्न होता हुआ उसी में तन्मय है, और अजीव में तन्मय नहीं है—राग में तन्मय नहीं है; ऐसी स्वसन्मुख प्रतीति में सात तत्त्वों की श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन आ जाता है।

(१) ज्ञायकभाव के साथ जीव की अभेदता है—ऐसी श्रद्धा हुई, उसमें ज्ञायकस्वभावी जीव की प्रतीति आ गई।

(२) अपने ज्ञायकभाव की क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होनेवाले जीव का अजीव के साथ एकत्व नहीं है; तथा अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होनेवाले अजीव का जीव के साथ एकत्व नहीं है;—इसप्रकार अजीवतत्त्व की श्रद्धा भी आ गई।

(३-४) अब ज्ञायकभावरूप से परिणमित होनेवाला साधक-जीव उस-उस काल के रागादि को भी जानता है;—किन्तु उन रागादि को अपने शुद्ध जीव के साथ तन्मय नहीं जानता, उन्हें आस्रव-बन्ध के साथ तन्मय जानता है—इस प्रकार आस्रव और बन्ध तत्त्वों की श्रद्धा भी आ गई।

(५-६) ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से अपने को श्रद्धा-ज्ञान-आनन्द आदि के निर्मल

परिणाम होते हैं, वह संवर-निर्जरा है, उसे भी ज्ञानी जानते हैं, और इसलिये संवर-निर्जरा की प्रतीति भी आ गई।

(७) संवर-निर्जरारूप अंश में शुद्धपर्यायरूप से तो स्वयं परिणमित होता ही है, और पूर्ण शुद्धतारूप मोक्षदशा कैसी होती है—वह भी प्रतीति में आ गया है, इसलिये मोक्षतत्त्व की श्रद्धा भी आ गई।

—इस प्रकार ज्ञायकभाव की क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित जीव को सातों तत्त्वों की प्रतीति आ गई है। ('क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में सातों तत्त्वों की श्रद्धा और जैनशासन'—इसके लिये देखिये आत्मधर्म अंक ११९-२० प्रवचन चौथा, नं० ९३-९५)

(६५) अज्ञानी के सात तत्त्वों में भूल

(१-२) अज्ञानी को अपने ज्ञायकभाव की खबर नहीं है और शरीरादि अजीव की क्रमबद्धपर्यायों को मैं बदल सकता हूँ—ऐसा वह मानता है, यानी अजीव के साथ अपनी एकता मानता है, इसलिये उसकी जीव-अजीवतत्त्व की श्रद्धा में भूल है।

(३-४) और जो शुभरागादि पुण्यभाव होते हैं, वे आस्रव के साथ तन्मय हैं, उसके बदले उन्हें धर्म मानता है, यानी शुद्ध जीव के साथ एकमेक मानता है; इसलिये उसकी आस्रव-बन्ध तत्त्वों की श्रद्धा में भूल है।

(५-६) आत्मा की शुद्ध वीतरागीदशा संवर-निर्जरा है, उसके बदले पंचमहाव्रतादि के शुभराग को संवर-निर्जरा मानता है, इसलिये संवर-निर्जरा तत्त्व की श्रद्धा में भूल है।

(७) और मोक्ष का कारण भी उसने विपरीत माना, इसलिये मोक्ष की श्रद्धा में उसकी भूल है।

—इस प्रकार अज्ञानी की सातों तत्त्वों की श्रद्धा में भूल है।

(६६) भेदज्ञान का अधिकार

जीव-अजीव की क्रमबद्धपर्याय को पहिचाने तो उसमें भेदज्ञान और सातों तत्त्वों की यथार्थश्रद्धा आ जाती है। इस प्रकार यह भेदज्ञान का अधिकार है।

(६७) 'क्रमबद्धपर्याय' की उत्पत्ति अपनी अन्तरंग योग्यता के सिवा अन्य किसी बाह्यकारण से नहीं होती

क्रमबद्धपर्याय कहो या 'योग्यता' कहो, तद्नुसार ही कार्य होता है। पर्याय की योग्यता स्वयं ही अन्तरंग कारण है; दूसरा निमित्त तो बाह्य कारण है। अन्तरंग कारण के अनुसार ही प्रत्येक कार्य होता है; बाह्यकारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। श्री षट्खण्डागम की धवल-टीका में वीरसेनाचार्यदेव ने इस सम्बन्ध में अति अलौकिक स्पष्टीकरण किया है।

मोहनीय कर्म के परमाणु उत्कृष्ट ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक रहते हैं, जब कि आयुकर्म के परमाणुओं की स्थिति उत्कृष्ट ३३ सागरोपम की होती है:—ऐसी ही उस-उस कर्मप्रकृति की स्थिति है। कोई पूछे कि मोहकर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागर की और आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति मात्र ३३ सागर की ही:—ऐसा क्यों? तो षट्खण्डागम में आचार्यदेव कहते हैं कि प्रकृतिविशेष होने से उस प्रकार का स्थितिबन्ध होता है; अर्थात् उन-उन विशेषप्रकृतियों की वैसी अन्तरंग योग्यता है, और उनकी योग्यतारूप अन्तरंग कारण से ही वैसा होता है।—ऐसा कहकर यहाँ आचार्यदेव ने महान सिद्धान्त बतलाया है कि—"सर्वत्र अन्तरंग कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है—ऐसा निश्चय करना चाहिये।"

दूसरा दृष्टान्त लें:—दसवें गुणस्थान में जीव को लोभ का सूक्ष्म अंश और योग का कम्पन है; वहाँ उसे मोह और आयु को छोड़कर शेष छह कर्मों का बन्ध होता है; उनमें ज्ञानावरणादि की अन्तर्मुहूर्त की स्थिति पड़ती है और सातावेदनीय की स्थिति १२ मुहूर्त की; तथा गोत्र और नामकर्म की स्थिति आठ मुहूर्त की बँधती है। छहों कर्मों का बन्ध एक साथ होने पर भी स्थिति में इस प्रकार अन्तर होता है। स्थिति में क्यों ऐसा अन्तर होता है?—ऐसा प्रश्न उठने पर आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि 'प्रकृतिविशेष होने से'—अर्थात् उस-उस मुख्य प्रकृति का अन्तरंग कारण ही वैसा है; और उस अन्तरंग कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है।

ऊपर भिन्न-भिन्न कर्म की भिन्न-भिन्न स्थिति के सम्बन्ध में कहा, उसी प्रकार "वेदनीय कर्म में परमाणुओं की संख्या अधिक, और दूसरे कर्म में थोड़ी-ऐसा क्यों?"—ऐसा प्रश्न कोई करे तो उसका भी यही समाधान है कि उन-उन प्रकृतियों का वैसा स्वभाव है। पर्याय का स्वभाव कहो, योग्यता कहो, या अन्तरंग कारण कहो—उसी से कार्य की उत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त

बाह्य कारणों से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। यदि कभी बाह्य कारणों से कार्य की उत्पत्ति होती तो चावल के बीज में से गेहूँ की उत्पत्ति होना चाहिए; किन्तु ऐसा कभी नहीं होता।

निमित्त तो बाह्य कारण है। उस बाह्य कारण के कोई द्रव्य-क्षेत्र-काल या भाव ऐसे सामर्थ्यवान नहीं हैं कि जिनके बल से नीम के वृक्ष से आमों की पैदावार हो, या चावल के पौधे से गेहूँ की उत्पत्ति हो अथवा जीव में से अजीव हो जाये। यदि बाह्य कारणानुसार कार्य की उत्पत्ति होती हो, तब तो अजीव के निमित्त से जीव भी अजीवरूप हो जायेगा।—किन्तु ऐसा कभी नहीं होता; क्योंकि बाह्यकारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती; अन्तरंग कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है। (देखो, षट्खण्डागम पुस्तक ६, पृष्ठ १३४)

(६८) निमित्त और नैमित्तिक की स्वतंत्रता

द्रव्य में किस समय परिणमन नहीं है?—और जगत में किस समय निमित्त नहीं है?—जगत के प्रत्येक द्रव्य में प्रतिसमय परिणमन हो ही रहा है और निमित्त भी सदैव होता ही है;-तब फिर इस निमित्त के कारण यह हुआ-यह बात कहाँ रहती है? और निमित्त न हो तो नहीं हो सकता-यह प्रश्न भी कहाँ रहता है? यहाँ कार्य होने में और सामने निमित्त होने में कहीं समयभेद नहीं है। निमित्त का अस्तित्व कहीं नैमित्तिककार्य की पराधीनता नहीं बतलाता; किन्तु निमित्त किसका? कहते हैं, नैमित्तिककार्य हुआ उसका;—इस प्रकार वह नैमित्तिक को प्रगट करता है।—ऐसी निमित्त-नैमित्तिक की स्वतंत्रता भी जो न जाने, उसे स्व-पर का भेदज्ञान नहीं है और अंतर में ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि तो उसे होती ही नहीं। यहाँ तो ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि होने से निमित्त के साथ का सम्बन्ध टूट जाता है—ऐसी सूक्ष्म बात है। ज्ञानी की दृष्टि में कर्म के साथ का निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध छूट गया है।

(६९) ज्ञायकदृष्टि में ज्ञानी का अकर्तृत्व

ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न होनेवाले जीव को पर के साथ कार्य-कारणपना नहीं है; अर्थात् वह नवीन कर्मबन्धन में निमित्त नहीं होता और पुराने कर्मों को निमित्त नहीं बनाता। कोई पूछे कि राग का तो कर्ता है न? तो कहते हैं कि नहीं; राग पर दृष्टि न होने से ज्ञानी, राग के कर्ता नहीं हैं; ज्ञायकदृष्टि में ज्ञायकभावरूप भी उत्पन्न हो—और रागरूप भी उत्पन्न हो—ऐसा नहीं होता। ज्ञायक तो ज्ञायकरूप से ही उत्पन्न होता है—रागरूप से उत्पन्न नहीं होता, राग के ज्ञातारूप से उत्पन्न होता है।

(७०) जीव के निमित्त बिना पुद्गल का परिणमन

प्रश्न : पुद्गल तो अजीव है, कहीं जीव के निमित्त बिना उसकी अवस्था हो सकती है ?

उत्तर : भाई ! जगत में अनन्तानन्त ऐसे सूक्ष्म परमाणु—पृथक् तथा स्कन्धरूप—हैं कि जिनको परिणमन में कालद्रव्य ही निमित्त है; जीव का निमित्तपना नहीं है। जीव के साथ निमित्त-नैमित्तिकसम्बनध तो अमुक पुद्गलस्कन्धों को ही है; किन्तु उसके अनंतगुने परमाणु तो जीव के साथ निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध बिना ही परिणमित हो रहे हैं। एक पृथक् परमाणु एक अंश में से दो अंश रूखेपन या चिकनेपनरूप परिणमित हो, वहाँ कौन-सा जीव निमित्त है !—उसे मात्र कालद्रव्य ही निमित्त है। अज्ञानी को संयोग में से ही देखने की दृष्टि है, इसलिये वह वस्तु के स्वाधीन परिणमन को नहीं देखता। (निमित्त न हो तो ? ....क्या निमित्त के बिना कार्य हो सकता है ?—इत्यादि प्रश्नों के स्पष्टीकरण के लिये अंक नं. ११९-१२० में पहली बार के प्रवचनों में से नं० १००-१०१, ११४ और १५० देखिये।)

(७१) ज्ञायकस्वरूप से उत्पन्न होनेवाला ज्ञानी, कर्म का निमित्तकर्ता भी नहीं है

यहाँ तो 'सर्वविशुद्धज्ञान' की यानी जीव के स्वभाव की बात चल रही है। जीव का ज्ञानस्वभाव है, वह पर का अकर्ता है।—निमित्तरूप से भी वह पर का अकर्ता है। पर में यहाँ मुख्यरूप से मिथ्यात्वादि कर्मों की बात है। ज्ञानस्वभावरूप से उत्पन्न होनेवाले जीव को मिथ्यात्वादि कर्मों का निमित्तकर्तापना भी नहीं है। जीव को अजीव के साथ उत्पाद्य-उत्पादकभाव का अभाव है; इसलिये जीव अपने ज्ञायकस्वभावरूप से उत्पन्न होता हुआ, निमित्त होकर जड़कर्म को उत्पन्न करे—ऐसा कभी नहीं होता।

सर्व द्रव्यों को दूसरे द्रव्यों के साथ उत्पाद्य-उत्पादकभाव का अभाव है। प्रत्येक द्रव्य अपने क्रमबद्धपरिणाम का उत्पादक है, किन्तु दूसरे के परिणाम का उत्पादक नहीं है। जैसे कि—कुम्हार अपने हाथ की हलन-चलनरूप अवस्था का उत्पादक है, किन्तु मिट्टी में से जो घड़ारूप अवस्था हुई, उसका वह उत्पादक नहीं है, उसका उत्पादक तो मिट्टी ही है;—मिट्टी स्वयं ही उस अवस्था में तन्मय होकर घड़ारूप से उत्पन्न हुई है—कुम्हार नहीं। उसी प्रकार जीव अपने क्रमबद्ध ज्ञानादि परिणामों का उत्पादक है, किन्तु अजीव का उत्पादक नहीं है। ज्ञानस्वभाव में तन्मय होकर ज्ञानभावरूप से उत्पन्न होनेवाला जीव अपने ज्ञानपरिणाम का उत्पादक है, किन्तु रागादि का

उत्पादक नहीं है; क्योंकि वह रागादि के साथ तन्मय होकर उत्पन्न नहीं होता; और रागादि का उत्पादक न होने से कर्मबंधन में वह निमित्त भी नहीं है; इस प्रकार वह जीव अकर्ता ही है। यह सारा विषय अन्तर्दृष्टि का है। अंतर की ज्ञायकदृष्टि के बिना ऐसा अकर्तापना या क्रमबद्धपना समझ में नहीं आ सकता।

(७२) ज्ञानी को कैसा व्यवहार होता है, और कैसा नहीं होता ?

देखो, तत्त्वार्थसूत्र (अध्याय ५, सूत्र २१) में जीव के परस्पर उपकार की बात की है। वहाँ उपकार का अर्थ 'निमित्त' है। एक जीव ने दूसरे का उपकार किया—ऐसा निमित्त से कहा जाता है। किन्हीं ज्ञानी गुरु के निमित्त से अपूर्व आत्मज्ञान की प्राप्ति हो, वहाँ ऐसा कहा जाता है कि—'अहो! इन गुरुदेव का मुझ पर अनंत उपकार हुआ....' यद्यपि गुरु कहीं शिष्य के ज्ञान के उत्पादक नहीं हैं, तथापि वहाँ तो विनय के लिये निमित्त से गुरु का उपकार कहा जाता है; लेकिन उसी प्रकार यहाँ ज्ञानी को तो मिथ्यात्वादि कर्मों के साथ ऐसा निमित्त-नैमित्तिकभाव भी लागू नहीं होता। ज्ञानी निमित्त होकर मिथ्यात्वादि कर्मों की उत्पत्ति करें—ऐसा नहीं होता। 'अहो! गुरु ही मेरे ज्ञान के उत्पादक हैं, गुरु ने ही मुझे ज्ञान दिया, गुरु ने ही आत्मा दिया'—ऐसा गुरु के उपकार के निमित्त से कहा जाता है—ऐसा व्यवहार तो ज्ञानी के होता है, किन्तु निमित्त होकर मिथ्यात्वादि कर्म के उत्पादक हों—ऐसा व्यवहार ही ज्ञानी को लागू नहीं होता। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से निश्चय अकर्तृत्व को जान लें, तब भूमिकानुसार कैसा व्यवहार होता है, उसकी खबर पड़े। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि के बिना जो अकेले व्यवहार को जानने जाये, वह अंधा है; स्व-परप्रकाशकज्ञान जागृत हुए बिना व्यवहार को जानेगा कौन? अज्ञानी तो व्यवहार को जानते हुए उसी को आत्मा का परमार्थ स्वरूप मान लेता है; इसलिये उसे निश्चय या व्यवहार का सच्चा ज्ञान नहीं होता। ज्ञाता जागृत हुआ, वही व्यवहार को यथावत् जानता है।

(७३) 'मूलभूत ज्ञानकला' कैसे उत्पन्न होती है ?

मूलभूत भेदज्ञान क्या वस्तु है, उसे लोग भूल गये हैं। पं० बनारसीदासजी कहते हैं कि:—

चेतनरूप अनूप अमूरति, सिद्धसमान सदा पद मेरो।
मोह महातम आतम अंग, कियो परसंग महातम घेरो॥
ज्ञानकला उपजी अब मोहि, कहूँ गुन नाटक आगम केरो।
जासु प्रसाद सधे सिवमारग, वेगि मिटे भववास बसेरो॥११॥

—इसमें कहते हैं कि मेरे ज्ञानकला उत्पन्न हुई; किस प्रकार उत्पन्न हुई? क्या किसी बाह्यसाधन से या व्यवहार के अलम्बन से ज्ञानकला उत्पन्न हुई? नहीं; अन्तर में मेरा स्वरूप सिद्धसमान चैतन्यमूर्ति है—उसी के अवलम्बन से भेदज्ञानरूपी अपूर्व ज्ञानकला उत्पन्न हुई; जैसे सिद्धभगवान ज्ञायकबिम्ब हैं, उसी प्रकार मेरा स्वभाव भी ज्ञायक ही है;—इसप्रकार ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि और अनुभव से ज्ञानकला उत्पन्न हुई। इसके सिवा अन्य रीति माने तो वह सिद्ध-भगवान या पंचपरमेष्ठीपद को नहीं मानना है।

(७४) 'व्यवहार का लोप!!'-लेकिन किस व्यवहार का? और किसे?

अरे! इसमें तो व्यवहार का लोप हो जायेगा!!—ऐसा कोई पूछे तो उसका उत्तर:—'भाई! कौन से व्यवहार का लोप होगा?' प्रथम तो बाह्य में शरीरादि जड़ की क्रिया तो आत्मा की कभी है ही नहीं; इसलिये उसके लोप होने-न होने का प्रश्न ही नहीं रहता। अज्ञानी को विपरीतदृष्टि में कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिकपने का व्यवहार का रहता है; इस ज्ञायकदृष्टि में मिथ्यात्वादि कर्म के कर्तृत्वरूप उस व्यवहार का लोप हो जाता है। अज्ञानी को व्यवहार का अभाव नहीं करना है, किन्तु अभी व्यवहार रखना है; इसलिये कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिकसंबंध का व्यवहारसंबंध रखकर उसे संसार में भटकना है—ऐसा उसका अर्थ हुआ। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से कर्म के साथ का निमित्त-नैमित्तिकसंबंध तोड़ डाला, वहाँ दृष्टि-अपेक्षा से तो सम्यक्त्वी मुक्त ही है। इस प्रकार दृष्टि में व्यवहार का निषेध करने के पश्चात् साधकपने में जिस-जिस भूमिका में जैसा-जैसा व्यवहार होता है, उसे वह सम्यक्ज्ञान द्वारा जानता है और पश्चात् भी, ज्ञायकस्वभाव में एकाग्रता द्वारा शुभराग व्यवहार का अभाव होगा तो वीतरागता होगी। किन्तु व्यवहार के अवलम्बन की ही जिसे रुचि और उल्लास है, उसे तो ज्ञायकस्वभावोन्मुख होकर सम्यग्दर्शन करने का भी अवकाश नहीं है। अन्तर में ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन बिना अपनी क्रमबद्धपर्याय में सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें नहीं होतीं। ज्ञानी तो अपने ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से ही सम्यग्दर्शनादि निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूप परिणमित होता है, उसका नाम धर्म और मुक्ति का मार्ग है।

●●

पाँचवाँ प्रवचन

[आश्विन शुक्ला ११, वीर सं० २४८०]

(७५) क्रमबद्धपर्याय कब की है-और वह कब निर्मल होती है ?

आत्मा ज्ञायकस्वभाव है, वह पर का अकर्ता है; यह बतलाने के लिये क्रमबद्धपर्याय की बात चल रही है।

प्रश्न : यह क्रमबद्धपर्याय कब से चल रही है ?

उत्तर : अनादि से चल रही है। जिस प्रकार द्रव्य अनादि है, उसी प्रकार उसकी पर्याय का क्रम भी अनादि से चल ही रहा है। जितने तीनकाल के समय हैं, उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें हैं।

प्रश्न : अनादिकाल से क्रमबद्धपर्याय हो रही है, तथापि अभी निर्मल पर्याय क्यों नहीं हुई ?

उत्तर : समस्त जीवों को अनादि से क्रमबद्धपर्याय हो रही है, तथापि ज्ञायक की ओर के सच्चे पुरुषार्थ बिना निर्मल पर्याय हो जाये—ऐसा कभी नहीं होता। विपरीत पुरुषार्थ हो, वहाँ क्रमबद्धपर्याय भी विकारी ही होती है। अज्ञानी को ज्ञायकस्वभाव के भान बिना क्रमबद्धपर्याय की सच्ची प्रतीति नहीं है, और ज्ञायकस्वभाव के पुरुषार्थ बिना निर्मल पर्याय नहीं होती। ज्ञानी को अपने ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति होने से क्रमबद्धपर्याय की भी सच्ची प्रतीति है, और ज्ञायकस्वभावसन्मुख के पुरुषार्थ द्वारा उसे निर्मल क्रमबद्धपर्याय होती है। इस प्रकार ज्ञायकस्वभावसन्मुख का पुरुषार्थ करने का यह उपदेश है—ऐसा समझे, वही क्रमबद्धपर्याय को समझा है।

(७६) क्रमबद्धपर्याय के निर्णय का मूल

'क्रमबद्धपर्याय रूप से उत्पन्न होता है....'

—कौन उत्पन्न होता है ?

'द्रव्य उत्पन्न होता है....'

—कैसा द्रव्य ?

'ज्ञायकस्वभावी द्रव्य।'

जिसे ऐसे द्रव्यस्वभाव की सन्मुखता हो, उसी को क्रमबद्धपर्याय यथार्थ समझ में आती है। इस प्रकार ज्ञायकस्वभाव की सन्मुखता ही क्रमबद्धपर्याय के निर्णय का मूल है।

(७७) इस समय पर्याय का पर में 'अकर्तृत्व' सिद्ध करने की मुख्यता है, पर में निरपेक्षता सिद्ध करने की मुख्यता नहीं है

यहाँ, पर्याय का पर में अकर्तृत्व बतलाना है, इसलिये 'द्रव्य उत्पन्न होता है'—यह बात की है। द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, और उत्पन्न होता हुआ उस पर्याय में वह तन्मय है—इस प्रकार द्रव्य-पर्याय दोनों की अभेदता बतलाकर पर का अकर्तृत्व सिद्ध किया है।

जब सामान्यधर्म और विशेषधर्म—ऐसे दोनों धर्म ही सिद्ध करना हों, तब तो ऐसा कहा जाता है कि पर्याय तो पर्यायधर्म से ही है-द्रव्य के कारण नहीं है। क्योंकि यदि सामान्य और विशेष (द्रव्य और पर्याय) दोनों धर्मों को निरपेक्ष न मानकर, सामान्य के कारण विशेष मानें तो विशेषधर्म की हानि होती है; इसलिये पर्याय भी अपने से सत् है।—पर्यायधर्म को निरपेक्ष सिद्ध करना हो, तब इस प्रकार कहा जाता है।

* श्री समन्तभद्रस्वामी 'आप्तमीमांसा' में कहते हैं कि—

(श्लोक : ७३) जो धर्म-धर्मी आदि के एकान्त करि आपेक्षिक सिद्धि मानिए, तो धर्म-धर्मी दोऊ ही न ठहरे। बहुरि अपेक्षा बिना एकान्त करि सिद्धि मानिए तो सामान्य-विशेषपणां न ठरहे।

(श्लोक : ७५) धर्म अर धर्मी के अविनाभाव है, सो तो परस्पर अपेक्षा करि सिद्ध है; धर्म बिना धर्मी नाहीं। बहुरि धर्म, धर्मी का स्वरूप है, सो परस्पर अपेक्षा करि सिद्ध नांहीं है, स्वरूप है सो स्वत: सिद्ध है।

* प्रवचनसार की १७२ वीं गाथा में 'अलिंगग्रहण' के अर्थ में कहा है कि— '×××इस प्रकार आत्मा द्रव्य से न आलिंगत ऐसा शुद्धपर्याय है।'

* फिर १०१ वीं गाथा में कहते हैं कि—'अंशी ऐसे द्रव्य के नष्ट होता हुआ भाव, उत्पन्न होता हुआ भाव और अवस्थित रहता हुआ भाव, इन स्वरूप तीन अंश-भंग-उत्पाद-ध्रौव्य-स्वरूप-निजधर्मों द्वारा आलम्बित एक साथ ही भासित होते हैं।' व्यय नष्ट होते हुए भाव के आश्रित है; उत्पाद उत्पन्न होते हुए भाव के आश्रित है और ध्रौव्य अवस्थित रहते हुए भाव के आश्रित है।

* फिर श्री अमितगति आचार्यकृत योगसार में कहते हैं कि :—

ज्ञानदृष्टि चारित्राणि ह्रियंते नाक्षगोचरैः।
क्रियन्ते न च गुर्वाद्यैः सेव्यमानैरनारतं॥१८॥
उत्पद्यते विनश्यन्ति जीवस्य परिणामिनः।
ततः स्वयं स दाता न परतो न कदाचन॥१९॥

—इसमें कहते हैं कि आत्मा में ज्ञानादिक की हीनता या अधिकता अपनी पर्याय के कारण ही होती है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र का न तो इन्द्रियों के विषय से हरण होता है, और न तो गुरुओं की निरन्तर सेवा से उनकी उत्पत्ति होती है; परन्तु जीव स्वयं परिणमनशील होने से प्रतिसमय उसके गुणों की पर्याय बदलती है-मतिज्ञानादिक पर्यायों की उत्पत्ति और विनाश होता रहता है; इसलिये मतिज्ञानादि का उत्पाद या विनाश पर से भी नहीं है और द्रव्य स्वयं भी उसका दाता नहीं है। प्रतिसमय पर्याय की योग्यता से पर्याय होती है; सामान्य द्रव्य को उसका दाता कहना, वह सापेक्ष है; पर्याय को निरपेक्षरूप से देखें तो वह पर्याय स्वयं वैसी परिणमित हुई है। उस समय का पर्यायधर्म ही वैसा है। सामान्यद्रव्य को उसका दाता कहना, वह सापेक्ष है; किन्तु द्रव्य-पर्याय की निरपेक्षता के कथन में यह बात नहीं आती। निरपेक्षता के बिना एकान्त सापेक्षता ही मानें तो सामान्य-विशेष दो धर्म ही सिद्ध नहीं हो सकते।

* प्रवचनसार की १६ वीं गाथा में आचार्यदेव कहते हैं कि - शुद्धोपयोग से होनेवाली शुद्धस्वभाव की प्राप्ति अन्य कारकों से निरपेक्ष होने से अत्यन्त आत्माधीन है। शुद्धोपयोग से केवलज्ञान की प्राप्ति हो, उसमें आत्मा स्वयमेव छह कारकरूप होता है; इसलिये 'स्वयंभू' कहा जाता है। द्रव्य स्वयं ही अपनी अनन्त शक्तिरूप सम्पदा से परिपूर्ण है; इसलिये स्वयं ही छह कारकरूप होकर अपना कार्य उत्पन्न करने में समर्थ है; उसे बाह्यसामग्री कुछ भी सहायता नहीं दे सकती। अहो! प्रत्येक पर्याय के छहों कारक स्वतंत्र हैं।

* षट्खण्डागम-सिद्धान्त में भी कहा है कि — "सर्वत्र अन्तरंगकारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती हहै—ऐसा निश्चय करना चाहिये।" वहाँ अन्तरंगकारण कहने से पर्याय की योग्यता बतलाना है। भिन्न-भिन्न कर्मों के स्थितिबंध में हीनाधिकता क्यों है?—ऐसे प्रश्न के उत्तर में सिद्धांतकार कहते हैं कि—प्रकृतिविशेष होने से, अर्थात् उस-उस प्रकृति का वैसा ही विशेष

स्वभाव होने से, इस प्रकार हीनाधिक स्थितिबन्ध होता है; उसकी योग्यतारूप अन्तरंगकारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है; बाह्यकारणों से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती।

(विशेष के लिये देखिये-इसका ही चौथा प्रवचन, नं. ६७)

* (यहाँ समयसार गाथा ३०८ से ३११ में) कहते हैं कि-अन्य द्रव्य से निरपेक्षरूप से, स्वद्रव्य में ही कर्ता-कर्म की सिद्धि है; और इसलिये जीव, पर का अकर्ता है।

इस समय इस चालू अधिकार में पर्याय की निरपेक्षता सिद्ध करने की मुख्यता नहीं है, किन्तु प्रत्येक द्रव्य को अपनी क्रमबद्धपर्याय के साथ तन्मयता होने से पर के साथ उसे कर्ताकर्मपना नहीं है—इस प्रकार अकर्तृत्व सिद्ध करके, 'ज्ञायक आत्मा कर्म का अकर्ता है'—ऐसा बतलाना है। क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होनेवाले द्रव्य को अपनी पर्याय के साथ अभेदता है। ज्ञायक आत्मा स्वसन्मुख होकर निर्मल पर्यायरूप से उत्पन्न हुआ, उसमें वह तन्मय है, किन्तु रागादि में तन्मय नहीं है; इसलिये वह रागादि का कर्ता नहीं है और कर्मों का निमित्तकर्ता भी नहीं है। इस प्रकार आत्मा अकर्ता है।

(७८) साधक को चारित्र की एक पर्याय में अनेक बोल; उनमें वर्तता हुआ भेदज्ञान; और उसके दृष्टान्त से निश्चय-व्यवहार का आवश्यक स्पष्टीकरण

साधकदशा में ज्ञानी को श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रादि अनन्त गुणों की पर्यायें स्वभाव के अवलम्बन से निर्मल होती हैं। यद्यपि अभी चारित्रगुण की पर्याय से अमुक रागादि भी होते हैं, परन्तु ज्ञानी को उनमें एकता नहीं है; इसलिये वास्तव में उनके रागादि का कर्तृत्व नहीं है। चारित्र की पर्याय में जो रागादि हैं, उन्हें वे आस्रव-बंध का कारण समझते हैं और स्वभाव के अवलम्बन से जो शुद्धता हुई है, उसे संवर-निर्जरा मानते हैं—इस प्रकार आस्रव और संवर को भिन्न-भिन्न जानते हैं।

देखो, ज्ञानी को चारित्रगुण की एक पर्याय में संवर-निर्जरा, आस्रव और बंध—यह चारों प्रकार एकसाथ वर्तते हैं, उनमें समय-भेद नहीं है; एक ही पर्याय में एकसाथ चारों प्रकार वर्तते हैं, तथापि उनमें जो आस्रव है, वह संवर नहीं है और संवर है, वह आस्रव नहीं है; और उनके कर्ता-कर्म आदि छहों कारक स्वतन्त्र हैं। जो संवर का कर्तृत्व है, वह आस्रव का नहीं है और जो आस्रव का कर्तृत्व है, वह संवर का नहीं है।

आस्रव, बंध, संवर और निर्जरा—ऐसे चारों प्रकार एकसाथ तो चारित्रगुण की पर्याय में ही

होते हैं, और वह साधक के ही होती है।

अहो, एक पर्याय में आस्रव और संवर दोनों एकसाथ वर्ते, तथापि दोनों के छह कारक भिन्न! अभी जो बाह्यकारणों से आस्रव या संवर मानता हो, वह अन्तरंग सूक्ष्म भेदज्ञान की यह बात कहाँ से समझेगा? आस्रव के कारण आस्रव, और संवर के कारण संवर—दोनों एक साथ हैं तथापि दोनों के कारण भिन्न हैं। यदि आस्रव के कारण संवर माने तो वह मिथ्यादृष्टि है।

—इसी प्रकार, व्यवहार और निश्चय दोनों एकसाथ (साधक को) होते हैं; किन्तु वहाँ व्यवहार के कारण निश्चय माने, अथवा ऐसा माने कि व्यवहारसाधन करते-करते उससे निश्चय प्रगट हो जायेगा, तो वह भी मिथ्यादृष्टि है, उसे आस्रव और संवरतत्त्व की खबर नहीं है। व्यवहार-रत्नत्रय का जो शुभराग है, वह आस्रव है, और निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो मोक्षमार्ग है, वह संवर-निर्जरा है; आस्रव और संवर दोनों भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं, दोनों के कारण भिन्न हैं। उसके बदले जिसने व्यवहार के कारण निश्चय होना माना, उसने आस्रव से संवर माना है; आस्रव और संवरतत्त्व को भिन्न न मानकर एक न माना; इसलिये उसके तत्त्वश्रद्धान में ही भूल है-वह मिथ्यादृष्टि है।

(७९) क्रमबद्धपर्याय की गहरी बात!

यहाँ तो ज्ञायकदृष्टि की सूक्ष्म बात है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में ज्ञानी निर्मल पर्याय का ही कर्तारूप से परिणमित होता है। अन्य कारकों से निरपेक्ष होकर, अपने-अपने स्वभाव के ही छहों कारकों से श्रद्धा-ज्ञान-आनन्दादि अनन्तगुण ज्ञायक के अवलम्बन से निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूप से ज्ञानी के परिणमित हो रहे हैं; इसका नाम अभूतपूर्व धर्म है और यही मुक्ति का मार्ग है। ज्ञायकस्वभाव के ही अवलम्बन बिना, राग के या व्यवहार के अवलम्बन से मोक्षमार्ग माने तो वह जीव आत्मा के ज्ञायकस्वभाव को, केवलीभगवान को या सात तत्त्वों को नहीं जानता है। निर्मल पर्याय की क्या स्थिति है अर्थात् किस प्रकार क्रमबद्धपर्याय निर्मल होती है, उसे भी वह नहीं जानता; इसलिये वास्तव में वह क्रमबद्धपर्याय नहीं जानता। भाई! यह तो बड़ी गहरी बात है।

(८०) 'मोती ढूँढ़नेवाला' (गोताखोर) गहरे पानी में उतरता है; उसी प्रकार जो गहराई तक उतरकर यह बात समझेगा, वह निहाल हो जायेगा!

प्रश्न : गहरे पानी में उतरने में डूब जाने का डर है?

उत्तर : इस पानी में उतरे तो विकार का मैल धुल जाये; इस गहरे पानी में उतरे बिना वस्तु हाथ में नहीं आ सकती। समुद्र में से मोती ढूँढ़ने के लिये भी गहरे पानी में उतरना पड़ता है; किनारे पर खड़े-खड़े हाथ लम्बाये तो मोती हाथ में नहीं आ सकते। उसी प्रकार अन्तर के ज्ञायकस्वभाव की ओर क्रमबद्धपर्याय की यह बात अन्तर में गहराई तक उतरे बिना समझ में नहीं आ सकती। यह तो अलौकिक बात प्रगट हो गई है; जो समझेगा, वह निहाल हो जायेगा।

''सहेजे समुद्र उल्लसियो त्यों मोती तणाया जाय,
भाग्यवान कर वापरे तेनी मूठी मोतीए भराय।''

यहाँ 'भाग्यवान' अर्थात् अन्तर का पुरुषार्थवान्! अन्तरस्वभाव की दृष्टि का प्रयत्न करे उसकी मुट्ठी मोतियों से भर जाती है अर्थात् निर्मल-निर्मल क्रमबद्धपर्याय होती जाती है; किन्तु जो ऐसा प्रयत्न नहीं करता उसके लिये कहते हैं कि—

''भाग्यहीन कर वापरे तेरी शंखले मूठी भराय''

समझने का प्रयत्न करके अन्तर में न उरते और यों ही अकेले शुभभाव में रुका रहे तो उसकी 'शंख ले मूठी भराय' यानी पुण्यबन्ध हो किन्तु स्वभाव की प्राप्ति नहीं हो सकती—धर्म का लाभ नहीं हो सकता।

(८१) केवलज्ञान की खड़ी

यह तो केवलज्ञान की खड़ी है। आज से पचास-साठ वर्ष पहले जब पाठशाला में पढ़ने जाते थे, तब सबसे पहले '**सिद्धो वर्ण समाम्नाय**'—ऐसा रटाते थे; यानी ''वर्णोच्चार का समुदाय स्वयंसिद्ध-अनादि से चला आ रहा है; वही हम सिखलायेंगे''—ऐसा इसका अर्थ है। उसी प्रकार यहाँ भी जो बात कही जा रही है, वह अनादि केवलज्ञान से सिद्ध हो गई है। और जो खड़ी सिखाते थे, उसमें ऐसा भी आता था कि —''कक्का केवली का'' उसी प्रकार यहाँ भी यह केवलज्ञान की खड़ी सिखाई जा रही है। इसे समझे बिना धर्म का प्रारम्भ नहीं होता। 'खड़ी' में ही केवलज्ञान की बात करते हुए 'ब्रह्मविलास' में कहा है कि—

'कक्का' कहे करन वश कीजे, कनक कामनी दृष्टि न दीजे।
करिके ध्यान निरंजन गहिये, 'केवलपद' इहि विधिसों लहिये॥

(८२) क्रमबद्धपर्याय ही वस्तुस्वरूप है

देखो, यह क्रमबद्धपर्याय वस्तु का स्वरूप है; ज्ञायक का स्वभाव सब व्यवस्थित जानने का है और ज्ञेयों का स्वभाव व्यवस्थित क्रमबद्ध नियमित पर्याय से परिणमित होने का है। इसप्रकार इसमें यथार्थ वस्तुस्थिति का निर्णय आ जाता है; इससे विपरीत माने तो वह वस्तुस्वरूप को नहीं जानता।

कोई ऐसा कहे कि—"निश्चय से तो पर्यायें क्रमबद्ध हैं, किन्तु व्यवहार से अक्रम हैं"—तो वह बात मिथ्या है।

और कोई ऐसा कहे कि—"केवली भगवान के लिये सब क्रमबद्ध है क्योंकि उन्हें तो तीनकाल का पूर्ण ज्ञान है, किन्तु छद्मस्थ के लिये अक्रमबद्ध है क्योंकि उसे तीनकाल का पूर्ण ज्ञान नहीं है"—तो यह बात भी मिथ्या है। इसकी मान्यता केवली से विपरीत हुई। कहीं केवली के लिये अलग वस्तुस्वरूप हो और छद्मस्थ के लिये अलग-ऐसा नहीं है।

(८३) क्रमबद्धपर्याय में निश्चय-व्यवहार की संधि, निमित्त-नैमित्तिक की संधि—आदि सम्बन्धी आवश्यक स्पष्टीकरण और तत्सम्बन्धी स्वच्छन्दियों की विपरीत कल्पनाओं का निराकरण

और क्रमबद्धपर्याय में ऐसा भी नहीं है कि वस्त्रादि सहित दशा में भी मुनित्व का या केवलज्ञान का क्रम आ जाये! आत्मा में मुनिदशा का क्रम हो, वहाँ शरीर में दिगम्बरदशा ही होती है। वस्त्रों का छोड़ना कहीं जीव का कार्य नहीं, किन्तु उस समय ऐसी ही दशा होती है। मुनिदशा का स्वरूप इससे विपरीत माने तो उसे निश्चय-व्यवहार की कोई खबर नहीं है, तथा क्रमबद्धपर्याय के नियम की या देव-गुरु के स्वरूप की खबर नहीं है।

और जहाँ मुनिपना होता है, वहाँ खड़े-खड़े हाथ में ही आहार लेने की क्रिया होती है; पात्रादि में आहार की क्रिया वहाँ नहीं होती; तथापि वहाँ अजीव की (हाथ की या आहार की) वैसी पर्याय जीव ने उत्पन्न की है—ऐसा नहीं है; इसी प्रकार सदोष आहार के त्यागादि में भी समझ लेना चाहिये। उस-उस दशा में ऐसा ही सहज निमित्त-नैमित्तिक मेल होता है, उसका मेल नहीं टूटता; और जीव ज्ञायक मिटकर अजीव का कर्ता भी नहीं होता। ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करे तो अजीव के कर्तृत्व का सब भ्रम छूट जाये और मिथ्यात्वादि कर्मों का निमित्तकर्तापना भी न रहे।

ऊपर जैसा मुनिदशा के सम्बन्ध में कहा है, वैसा ही समस्त पर्यायों में यथायोग्य समझना चाहिये। जैसे कि—सम्यक्त्वी के मांसादि का आहार होता ही नहीं। यहाँ जीव को सम्यग्दर्शनपर्याय का क्रम हो और सामने मांसादि का आहार भी हो—ऐसा कभी नहीं होता। तिर्यंच-सिंह आदि को जब सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है, तब उनको भी मांसादि का आहार छूट ही जाता है;—ऐसा ही उस भूमिका का स्वरूप है। तथापि पर की क्रिया का उत्पादक आत्मा नहीं है, ज्ञायक तो पर का अकर्ता ही है।

''हम तो सम्यक्त्वी हैं, अथवा हम तो मुनि हैं; फिर बाह्य में भले ही चाहे जैसे आहारादि का योग हो''— ऐसा कहे तो वह मिथ्यादृष्टि स्वच्छन्दी ही है। किस भूमिका में कैसा व्यवहार होता है, कैसा निमित्त होता है, तथा कैसे निमित्त और कैसा राग छूट जाता है, उसकी उसे खबर नहीं है।—ऐसे स्वच्छन्दी जीव को क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति या सम्यग्दर्शनादि नहीं होते; फिर मुनिदशा तो होगी ही कहाँ से?

ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में निर्मल-निर्मल क्रमबद्धपर्यायें होती जाती हैं और उन-उन पर्यायों में योग्य निमित्त होता है, वह भी क्रमबद्ध है; इसलिये 'निमित्त जुटाऊँ'—यह बात नहीं रहती। जैसे कि —'मुनिदशा में निमित्तरूप से निर्दोष आहार ही होता है, इसलिये निर्दोष आहार का निमित्त जुटाऊँ तो मेरी मुनिदशा बनी रहेगी'—ऐसा कोई माने उसकी निमित्ताधीन दृष्टि है। स्वभाव में एकाग्रता से मुनिदशा स्थित रहती है, उसके बदले संयोग के आधार से मुनिदशा मानता है, उसकी दृष्टि ही विपरीत है। निमित्त को जुटाना नहीं पड़ता, किन्तु सहजरूप से उसी प्रकार का निमित्त होता है; निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध सहज ही बन जाता है।—'अपने को जैसा कार्य करने की इच्छा हो, तदनुसार निमित्त जुटाना चाहिये'—ऐसा माने तो उसे ज्ञानस्वभाव की या क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा कहाँ रही?—उसके तो अभी इच्छा का और निमित्त का कर्तृत्व विद्यमान है। अरे भाई! निमित्तों को जुटाना या दूर करना कहाँ तेरे ज्ञान की बात है? निमित्त तो परद्रव्य है, उसकी क्रमबद्धपर्याय तेरे आधीन नहीं है।

(८४) ''ज्ञा...य...क'' क्या करता है?

ज्ञायक क्रमबद्ध अपने ज्ञायकप्रवाह की धारारूप से उत्पन्न होता है; ज्ञायकरूप से उत्पन्न होता हुआ वह किसे लेगा? किसे छोड़ेगा? या किसे बदलेगा? ज्ञायक तो ज्ञायकभाव का ही कर्ता

है, पर का अकर्ता है। यदि दूसरे का कर्ता होने जाये तो यहाँ अपने में ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं रहती, इसलिये मिथ्यादृष्टिपना हो जाता है। ज्ञायक पर का ज्ञाता भी व्यवहार से है; निश्चय से (तन्मयरूप से) स्वयं ज्ञायक का ज्ञाता है। ज्ञायकसन्मुख एकाग्रता में परज्ञेय का भी ज्ञान हो जाता है, किन्तु पर का उत्पादक नहीं है। इस प्रकार ज्ञायक आत्मा अकर्ता है। सर्वज्ञ भगवान स्व-पर के 'ज्ञायक' हैं, ज्ञेयों को जैसे का तैसा प्रसिद्ध करते हैं; इसलिये 'ज्ञायक' भी हैं, और अपने 'कारक' भी हैं; किन्तु पर के कारण नहीं हैं। पर के ज्ञायक तो हैं किन्तु कारक नहीं हैं।—इस प्रकार समस्त आत्माओं का ऐसा ज्ञायकस्वभाव है और पर का अकर्तृत्व है।—यह बात यहाँ समझाई है।

(८५) ज्ञायकस्वभाव की दृष्टिपूर्वक चरणानुयोग की विधि

शास्त्रों में चरणानुयोग की विधि का अनेक प्रकार से वर्णन आता है, किन्तु उस सबमें इस ज्ञायकस्वभाव की मूल दृष्टि रखकर समझे तभी समझ में आ सकता है। मुनि-दीक्षा लेने के भाव हों, तब माता-पितादि के निकट जाकर इस प्रकार आज्ञा माँगना चाहिये, उन्हें इस प्रकार समझाना चाहिये, इसका वर्णन प्रवचनसार आदि में अच्छी तरह किया है; और दीक्षा लेनेवाले को भी ऐसा विकल्प आये और माता के निकट जाकर कहे कि—'हे माताजी! अब मुझे दीक्षा की आज्ञा दीजिये! हे इस शरीर की जननी! मेरा अनादिकालीन जनक ऐसा जो आत्मा है, उसके निकट जाने की मुझे अनुमति दीजिये! भगवती दीक्षा की अनुमति दीजिये!' तथापि अन्तर में उस समय ज्ञान है कि इस वचन का कर्ता मैं नहीं हूँ; मेरे कारण इस वचन का परिणमन नहीं होता।

माता-पितादि की आज्ञा लेकर फिर गुरु के निकट-आचार्य मुनि के पास जाकर विनयपूर्वक कहते हैं कि 'हे प्रभो! मुझे शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धिरूप सिद्धि से अनुगृहीत कीजिये। हे नाथ! मुझे इस भवबंधन से छुड़ाकर भगवती मुनिदीक्षा दीजिये!'—तब श्रीगुरु भी उसे—'यह तुझे शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धिरूप सिद्धि'—ऐसा कहकर दीक्षा देते हैं।—इस प्रकार चरणानुयोग की विधि है; तथापि वहाँ दीक्षा देनेवाले और लेनेवाले दोनों जानते हैं कि हम तो ज्ञायक हैं, इस अचेतन भाषा के हम उत्पादक नहीं हैं; और इस विकल्प के भी वास्तव में हम उत्पादक नहीं हैं; हम तो अपने ज्ञायकभाव के ही उत्पादक हैं; ज्ञायकभाव में ही हमारी तन्मयता है।—ऐसे यथार्थ भान के बिना कदापि मुनिदशा नहीं होती।

मैं ज्ञायक हूँ-ऐसा अंतरभान, और क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति होने पर भी, तीर्थंकर भगवान

आदि के विरह में, अथवा पुत्रादि के वियोग में सम्यक्त्वी की आँखों से आँसू बहें, तथापि उस समय उन आँसुओं के वे उत्पादक नहीं हैं और अन्तर में शोक के किंचित् परिणाम हुए, उनके भी वास्तव में वे उत्पादक नहीं हैं; उस समय भी वे अपने ज्ञायकस्वभावरूप से उत्पन्न होते हुए ज्ञाता ही हैं;—हर्ष-शोक के कर्ता-भोक्ता नहीं हैं। वह अंतर्दृश्टि की अपूर्व बात है। यह दृष्टि प्रगट किये बिना कभी किसी को धर्म का अंश भी नहीं होता।

(८६) साधकदशा में व्यवहार का यथार्थ ज्ञान

ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि रखकर ज्ञायक जीव व्यवहार को भी यथार्थरूप से जानता है। क्रमबद्धपर्याय के यथार्थ ज्ञान में व्यवहार का ज्ञान भी आ जाता है। पंचाध्यायी में भिन्न प्रकार व्यवहार के चारों प्रकारों का वर्णन है:—

(१) व्यक्तराग, वह असद्भूत उपचरित व्यवहारनय का विषय,

(२) अव्यक्तराग, वह असद्भूत अनुपचरित व्यवहारनय का विषय;

(३) ज्ञान पर को जानता है, वहाँ 'पर का ज्ञान अथवा राग का ज्ञान' कहना वह सद्भूत उपचरित व्यवहारनय का विषय,

(४) ज्ञान, सो आत्मा—ऐसा गुण-गुणी भेद, वह सद्भूत अनुपचरित व्यवहारनय का विषय है।

('नय के इन चारों प्रकारों का स्वरूप तथा ज्ञायक के आश्रय से-निश्चय के आश्रय से उनका निषेध' इस सम्बन्ध में पूज्य गुरुदेव के विस्तृत प्रवचनों के लिये देखिये—आत्मधर्म अंक...९० तथा ९४)

एकाकार ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से जहाँ निश्चय सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रगट हुए और रागादि से भिन्नता जानो, वहाँ साधकदशा में उपरोक्तानुसार जो-जो व्यवहार होते हैं, उन्हें ज्ञानी अपने ज्ञान का ज्ञेय बनाते हैं। यद्यपि दृष्टि तो ज्ञायकस्वभाव पर ही पड़ी है, किन्तु पर्याय में व्यवहार है ही नहीं, राग है ही नहीं—ऐसा नहीं मानते; और उस व्यवहार की खतौनी परमार्थ में भी नहीं करते;—अर्थात् उस व्यवहार के अवलम्बन से लाभ नहीं मानते, उसे ज्ञान के ज्ञेयरूप से ज्यों का त्यों जानते हैं। यहाँ ज्ञायकसन्मुख ज्ञान के क्रम में रहकर राग के क्रम को भी यथावत् जानते ही हैं;

किन्तु ज्ञायक की अधिकता में उस राग के भी अकर्ता हैं—ऐसे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि धर्म की मूल नींव है।

(यहाँ क्रमबद्धपर्याय के प्रवचन पूर्ण हुए; इन प्रवचनों के अरसे में तत्संबन्धी बहुत-कुछ चर्चा हुई थी; वह भी उपयोगी होने से यहाँ दी जा रही है।)

(८७) 'केवली के ज्ञान में सब नोट है', पर को जानने की ज्ञान में सामर्थ्य है, वह कहीं अभूतार्थ नहीं है

यह क्रमबद्धपर्याय तो वस्तु का ही स्वरूप है; उसे सिद्ध करने के लिये केवलज्ञान की दलील देकर ऐसा सिद्ध किया जाता है कि—सर्वज्ञदेव ने केवलज्ञान में एकसमय में तीनकाल-तीनलोक के स्व-पर समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष देखा है; और तदनुसार ही परिणमन होता है।

तब इसके समक्ष कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि—'केवली भगवान पर को तो व्यवहार से जानते हैं, और व्यवहार तो अभूतार्थ है—ऐसा शास्त्र में कहा है; इसलिये केवली पर को नहीं जानते।'—ऐसा कहकर वे इस क्रमबद्धपर्याय का विरोध करना चाहते हैं। किन्तु वास्तव में तो वे केवलज्ञान की और शास्त्र के कथन की मजाक उड़ाते हैं; शास्त्र की ओट लेकर अपने स्वच्छन्द की पुष्टि करना चाहते हैं। अरे भाई! केवली को स्व-परप्रकाशक पूर्ण ज्ञानसामर्थ्य प्रगट हो गया है; वह ज्ञान कहीं अभूतार्थ नहीं है। क्या ज्ञान का जो परप्रकाशक सामर्थ्य है, वह कहीं अभूतार्थ है?—नहीं। जिस प्रकार समयसार की ७ वीं गाथा में दर्शन-ज्ञान-चारित्र के गुणभेद को अभूतार्थ कहा—तो क्या आत्मा में वे गुण हैं ही नहीं?—हैं तो अवश्य। उसी प्रकार केवली भगवान पर को जानें—उसे व्यवहार कहा है; तो क्या पर का ज्ञातृत्व नहीं है? पर को भी जानते तो हैं ही। केवली पर को जानते ही नहीं—ऐसा नहीं है। केवली को पर का आश्रय नहीं है—पर में तन्मय होकर नहीं जानते—परसन्मुख होकर नहीं जानते—इसलिये परप्रकाशकपने को व्यवहार कहा है। परप्रकाशकपने का ज्ञान का जो सामर्थ्य है, वह कहीं व्यवहार नहीं है; वह तो निश्चय से अपना स्वरूप है। भगवान के केवलज्ञान में त्रिकाल के पदार्थों की नोंध है। पं० राजमलजी समयसार-कलश की टीका में कहते हैं कि—संसारी जीवों में एक भव्यराशि है और एक अभव्यराशि है; उसमें अभव्यराशि जीव तो तीनकाल में मोक्ष प्राप्त नहीं करते; भव्य जीवों में से कुछ जीव मोक्ष जाने योग्य हैं और उनका मोक्ष में पहुँचने का काल-परिमाण है अर्थात् यह जीव इतना काल व्यतीत होने पर मोक्ष जायेगा—ऐसी केवलज्ञान में नोंध है—''यह जीव इतना काल वीत्या मोक्ष जासै—इसौ

न्यौधु केवलज्ञान माँहे छै।'' (पृष्ठ १०) केवली भगवान के ज्ञान में तीनकाल-तीन लोक की सारी नोंध है। जिस जीव को अंतरस्वभाव के ज्ञान का पुरुषार्थ हुआ, उसे अल्पकाल में मोक्ष होना है—ऐसा केवलज्ञान की नोंध में आ गया है। जिसके ज्ञान में सर्वज्ञ भगवान विद्यमान हो गये, उसकी मुक्ति भगवान के ज्ञान में लिखी गई।

प्रश्न : केवली भगवान को विकल्प तो नहीं है, तब फिर विकल्प के बिना पर को किस प्रकार जानेंगे ?

उत्तर : पर को जानते हुए केवली को कहीं पर की ओर उपयोग नहीं डालना पड़ता; किन्तु अपना ज्ञानसामर्थ्य ही ऐसा स्व-परप्रकाशक विकसित हो गया है कि—स्व-पर सब एकसाथ विकल्प बिना ज्ञान में ज्ञात हो जाता है। पर को जानता, वह कहीं विकल्प नहीं है। (ज्ञान को सविकल्प कहा जाता है, उसमें अलग अपेक्षा है। यहाँ रागरूप विकल्प की बात है।) केवली भगवान को ज्ञान का सामर्थ्य ही ऐसा परिणमित हो रहा है कि राग के विकल्प बिना ही स्व-पर सब प्रत्यक्ष ज्ञात होता है।

अहो, आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, उस स्वभाव में से जो केवलज्ञान विकसित हुआ, उसका अचिंत्य सामर्थ्य है। वह केवलज्ञान—

* अस्पष्ट नहीं जानता;
* विकल्प से नहीं जानता;
* परसन्मुख होकर नहीं जानता;

तथापि जाने बिना कुछ भी नहीं रहता—ऐसा केवलज्ञान है।

ऐसे केवलज्ञान को यथार्थरूप से पहिचाने तो आत्मा के ज्ञायकस्वभाव की सन्मुखता होकर सम्यग्दर्शन हुए बिना न रहे। प्रवचनसार की ८० वीं गाथा में आचार्य भगवान ने यही बात अलौकिक रीति से कही है।

(८८) भविष्य की पर्याय होने से पूर्व केवलज्ञान उसे किस प्रकार जानेगा ?—उसका स्पष्टीकरण

प्रश्न : भविष्य की जो पर्यायें नहीं हुई हैं, किन्तु होनेवाली हैं, उन्हें ज्ञान वर्तमान में जान सकता है ?

उत्तर : हाँ, केवलज्ञान एक समय की वर्तमान पर्याय में तीनों काल का सब कुछ जान लेता है।

प्रश्न : तो क्या भविष्य में जो पर्याय होनेवाली है, उसे वर्तमान में प्रगटरूप से जानता है ?

उत्तर : भविष्य की पर्याय को भविष्यरूप से जानता है, किन्तु वह पर्याय वर्तमान में प्रगटरूप से वर्तती है—ऐसा नहीं जानता। जानता तो सब वर्तमान में है, किन्तु जैसा हो वैसा जानता है। भविष्य में जो होना हो, उसे वर्तमान में भविष्यरूप से जानता है। स्पष्टरूप से जानता है।

प्रश्न : ज्ञान में भविष्य की पर्याय को भी जानने की शक्ति है, इसलिये जब वह पर्याय होगी, तब ज्ञान उसे आवेगा-इसप्रकार है ?

उत्तर : नहीं, ऐसा नहीं है। भविष्य को भी जानने का कार्य तो वर्तमान में ही है; वह कहीं भविष्य में नहीं है। जैसे कि—किसी जीव को अमुक समय भविष्य में केवलज्ञान होना है, तो ज्ञान वर्तमान में ऐसा जानता है कि इस जीव के इस समय ऐसी पर्याय होगी; किन्तु ज्ञान कहीं ऐसा नहीं जानता कि इस जीव को इस समय केवलज्ञान पर्याय व्यक्तरूप से वर्तती है ! और भविष्य की वह पर्याय होगी, तब ज्ञान उसे जानेगा—ऐसा भी नहीं है। भविष्य की पर्याय को भविष्य की पर्यायरूप से वर्तमान में ही ज्ञान जानता है। जिस प्रकार भूतकाल की पर्याय वर्तमान में वर्तती न होने पर भी, वर्तमान ज्ञान उसे जानता है, उसी प्रकार भविष्य की पर्याय वर्तमान में वर्तती न होने पर भी, ज्ञान उसे प्रत्यक्ष जानता है।

(८९) केवली को क्रमबद्ध, और छद्मस्थ को अक्रम-ऐसा नहीं है

प्रश्न : 'सब क्रमबद्ध है'—यह बात केवली भगवान के लिये बराबर है। केवली भगवान ने सब जाना है, इसलिये उनके लिये तो सब क्रमबद्ध ही है, किन्तु छद्मस्थ को तो पूर्णज्ञान नहीं है, इसलिये उसके लिये सब क्रमबद्ध नहीं है; छद्मस्थ के तो फेरफार भी हो सकता है—इस प्रकार कोई कहे तो वह बराबर है ?

उत्तर : नहीं; यह बात बराबर नहीं है। वस्तुस्वरूप सबके लिये एक-सा ही है। केवली के लिये अलग वस्तुस्वरूप और छद्मस्थ के लिये अलग—ऐसा दो प्रकार का वस्तुस्वरूप नहीं है। केवली के लिये सब क्रमबद्ध और छद्मस्थ के लिये अक्रमबद्ध अर्थात् छद्मस्थ उसमें उल्टा-सीधा भी कर सकता है—ऐसा माननेवाले को क्रमबद्धपर्याय के स्वरूप की खबर नहीं है। केवली

भगवान भले ही पूर्ण प्रत्यक्ष जानें और छद्मस्थ पूर्ण प्रत्यक्ष न जानें, तथापि वस्तुस्वरूप का (क्रमबद्धपर्याय आदि का) निर्णय तो दोनों को एक-सा ही है। केवलीभगवान सर्व द्रव्यों की क्रमबद्धपर्याय होना जानें, और छद्मस्थ उनका अक्रम से होना माने, तब तो उसके निर्णय में ही विपरीतता हुई। मैं ज्ञायक हूँ और पदार्थों की क्रमबद्ध अवस्था है—ऐसा निर्णय करके ज्ञायकस्वभावसन्मुख परिणमित होनेवाले ज्ञानी को तो ज्ञाताभाव का ही परिणमन विकसित होते-होते अनुक्रम से केवलज्ञान हो जाता है, परन्तु अभी जिसके निर्णय में ही भूल है, उसके ज्ञातापने का परिणमन नहीं होता, किन्तु विकार का ही कर्तापना रहता है।

(९०) ज्ञान और ज्ञेय का मेल, तथापि दोनों की स्वतंत्रता

प्रश्न : केवली भगवान ने जैसा जाना, उसी प्रकार इस जीव को परिणमित होना पड़ता है ? या जैसा वह जीव परिणमित हो, वैसा केवली भगवान जानते हैं ?

उत्तर : पहली बात यह है कि केवलज्ञान का निर्णय करनेवाले ने 'ज्ञानशक्ति' के अवलम्बन से वह निर्णय किया है; इसलिये उसमें निर्मल परिणमन (सम्यग्दर्शनादि) हो गया है और केवली भगवान ने भी वैसा ही जाना है।

केवली भगवान का ज्ञान और इस जीव का परिणमन—इन दोनों का ज्ञेय-ज्ञायकपने का मेल होने पर भी, कोई किसी के आधीन नहीं है। केवली भगवान ने तो सर्व पदार्थों को तीनोंकाल की अवस्थायें एक साथ जान ली हैं, और पदार्थ में परिणमन तो एक के बाद एक अवस्था का होता है। केवली ने जाना, इसलिये पदार्थ को वैसा परिणमित होना पड़ता है, ऐसा नहीं है; अथवा पदार्थ वैसा परिणमित होता है, इसलिये केवली वैसा जानते हैं—ऐसा भी नहीं है। ऐसा होने पर भी केवलज्ञान और ज्ञेय की संधि नहीं टूटती; केवलीज्ञान ने जाना, उससे दूसरे प्रकार से वस्तु परिणमित हो, अथवा तो वस्तु परिणमित हो, उससे दूसरे प्रकार से केवलज्ञान जाने—ऐसा कभी नहीं होता।

इसमें, केवलज्ञान की अर्थात् आत्मा के ज्ञायकस्वभाव की महत्ता समझना चाहिये और ज्ञायकसन्मुख होकर परिणमित होना चाहिये; वही मूलभूत वस्तु है।

(९१) आगम को जानेगा कौन ?

प्रश्न : यह पर्याय की बात आप जैसी कहते हैं, वैसी आगम में नहीं मिलती।

उत्तर : अरे भाई! अभी तुझे सर्वज्ञ का तो निर्णय नहीं है; तब फिर सर्वज्ञ के निर्णय बिना, 'सर्वज्ञ के आगम कैसे होते हैं और उनमें क्या कहा है' उसकी तुझे क्या खबर पड़ेगी? गुरुगम के बिना, अपनी विपरीतदृष्टि से आगम के यथार्थ अर्थ भासित हों, ऐसा नहीं है। आगम कहता है कि आत्मा का ज्ञानस्वभाव है और उसमें सर्वज्ञता का सामर्थ्य है। यदि ऐसे ज्ञानस्वभाव को और सर्वज्ञता को न जाने तो उसने आगम को जाना ही नहीं है; और यदि ऐसे ज्ञानस्वभाव को माने तो क्रमबद्धपर्याय का निर्णय उसमें आ ही जाता है।

जो क्रमबद्धपर्याय को सीधी रीति से न समझे, उसे समझाने के लिये यह केवलज्ञान की दलील दी जाती है; बाकी वस्तु तो स्वयं ही वैसे स्वभाववाली है; क्रमबद्धपर्याय वह वस्तु का ही स्वरूप है, वह कहीं केवलज्ञान के कारण नहीं है।

(९२) केवलज्ञान के और क्रमबद्धपर्याय के निर्णय बिना धर्म क्यों नहीं ?

प्रश्न : आप केवलज्ञान और क्रमबद्धपर्याय पर इतना अधिक भार देते हैं, तो क्या सर्वज्ञ के निर्णय बिना या क्रमबद्धपर्याय के निर्णय बिना धर्म नहीं हो सकता ?

उत्तर : नहीं, भाई! यह केवलज्ञान का या क्रमबद्धपर्याय का निर्णय तो ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन से होता है और इसके बिना कभी धर्म नहीं होता। ज्ञानस्वभाव कहो, केवलज्ञान कहो या क्रमबद्धपर्याय कहो—इन तीनों में से एक के निर्णय में दूसरे दो का निर्णय भी आ जाता है; और यदि केवलज्ञान को या क्रमबद्धपर्याय को न माने तो वह वास्तव में आत्मा के ज्ञानस्वभाव को ही नहीं मानता। यह तो जैनधर्म की मूल वस्तु है; इसके निर्णय बिना धर्म का प्रारम्भ हो, ऐसा कभी नहीं होता। स्वसन्मुख होकर 'मैं ज्ञान हूँ'—ऐसी ज्ञाताबुद्धि होने से सर्वज्ञता का निर्णय भी हो गया; क्रमबद्धपर्याय का भी निर्णय हो गया, कहीं फेरफार करने की बुद्धि न रही;—इसका नाम धर्म है।

(९३) तिर्यंच-सम्यक्त्वी को भी क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति

प्रश्न : तिर्यंच में भी कोई-कोई जीव (मेंढ़क आदि) सम्यक्त्वी होते हैं, तो क्या उन तिर्यंच सम्यक्त्वियों को भी ऐसी क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होती है ?

उत्तर : हाँ; 'क्र...म...ब...द्ध' ऐसे शब्द की भले ही उसे खबर न हो, किन्तु 'मैं ज्ञायक हूँ, मेरा आत्मा सब जानने के स्वभाववाला है'—ऐसे अंतर्वेदन में क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति भी उसे आ जाती है; क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति का जो कार्य है, वह कार्य उसे हो ही रहा है। उसका ज्ञान

ज्ञातारूप ही परिणमित होता है। पर का कर्ता या राग का कर्ता—ऐसी बुद्धि उसके नहीं है; ज्ञाताबुद्धि ही है और उसमें क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति समा जाती है। ज्ञानपर्याय को अन्तरोन्मुख करके 'मैं ज्ञायकभावरूप जीवतत्त्व हूँ'—ऐसी प्रतीति हुई है, वहाँ क्रमबद्धपर्याय का ज्ञातृत्व ही है।

और देखो, उन मेंढ़क या चिड़िया आदि तिर्यंचों को सम्यग्दर्शन होने से स्वसन्मुख होकर संवर-निर्जरादशा प्रगट हुई है, किन्तु अभी केवलज्ञान नहीं हुआ है। पर्याय में अभी अल्पता और राग भी है, तथापि उस पर्याय को जानते हुए उन्हें ऐसा विकल्प या संदेह नहीं उठता कि 'इस समय ऐसी पर्याय क्यों ? और केवलज्ञानपर्याय क्यों नहीं ?' ऐसा ही उस पर्याय का क्रम है-ऐसा जानते हैं। केवलज्ञान नहीं है, इसलिये कहीं सम्यग्दर्शन में शंका नहीं पड़ती। इसी प्रकार उस पर्याय में राग है, उसे भी जानते हैं, किन्तु उस राग को जानते हुए वे तिर्यंच सम्यक्त्वी उसका स्वभावरूप से वेदन नहीं करते; राग से भिन्न ज्ञायकस्वभावरूप ही स्वयं का अनुभव करते हैं। राग है, उतने अंश में उसका वेदन है; किन्तु ज्ञायकदृष्टि में उसका वेदन है ही नहीं। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से ज्ञान, समाधानरूप से वर्तता है; कहीं पर को इधर-उधर करने की मिथ्याबुद्धि नहीं होती, यही क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति का फल है।

—इस प्रकार, जो भी सम्यक्त्वी जीव हैं, उन सबको अपने ज्ञायकस्वभाव के निर्णय में, सर्वज्ञ की और क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति भी साथ में आ ही जाती है;—इससे विपरीत माननेवाले को सम्यग्दर्शन नहीं होता।

सम्यग्दर्शन कहो, 'के...व...ल' ज्ञान (अर्थात् राग से भिन्न ज्ञान) कहो, भेदज्ञान कहो, क्रमबद्धपर्याय का निर्णय कहो, जैनशासन कहो, या धर्म का प्रारम्भ कहो—वह सब इसमें एकसाथ आ जाता है।

(९४) क्रमबद्धपर्याय के निर्णय का फल-'अबधता', 'ज्ञायक को बंधन नहीं है'

जीव और अजीव दोनों की क्रमबद्धपर्याय अपने-अपने से स्वतन्त्र है; ज्ञायकस्वरूप जीव अपने ज्ञायकपने की क्रमबद्धपर्याय में परिणमित होता हुआ उसका ज्ञाता है, किन्तु पर का अकर्ता है। इस प्रकार अकर्तारूप से परिणमित होते हुए ज्ञायक को बन्धन होता ही नहीं।

—ऐसा होने पर भी, अज्ञानी को बन्धन क्यों होता है ? आचार्यदेव कहते हैं कि यह उसके अज्ञान की महिमा प्रगट है; उसके अज्ञान के कारण ही उसे बन्धन होता है, ज्ञायकस्वभाव की

महिमा जाने तो बन्धन न हो। ज्ञायकस्वभाव की महिमा भूलकर जो पर का कर्ता होता है, उसके अज्ञान की महिमा प्रगट हुई है और इसी से उसे बंधन होता है।

ज्ञायकस्वभावरूप परिणमित होनेवाला जीव, मिथ्यात्वादि कर्म के बन्धन में निमित्त भी नहीं होता; निमित्तरूप से भी वह मिथ्यात्वादि का अकर्ता ही है।

'अजीव की क्रमबद्धपर्याय भी स्वतन्त्र है; इसलिये उसमें जो मिथ्यात्वकर्मरूप से परिणमित होने का उपादान हो तो हमें भी मिथ्यात्वभाव करके उसे निमित्त होना पड़ेगा!'—ऐसी जिसकी दृष्टि है, उसके अज्ञान की महिमा प्रगट है अर्थात् वह महान अज्ञानी है। ज्ञायकस्वभाव की या क्रमबद्धपर्याय की उसे खबर नहीं है। ज्ञानी ने तो ज्ञानस्वभाव पर दृष्टि रखकर क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किया है; इसलिये उसकी दृष्टि का परिणमन तो स्वसन्मुख हो गया है; कर्म को निमित्त होने पर उसकी दृष्टि नहीं है। मिथ्यात्वादि कर्म उसके बँधता ही नहीं है।

क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय करनेवाले को अपने में मिथ्यात्व का क्रम नहीं होता—यह बात पहले की, और निमित्तरूप से अजीव में भी उसे मिथ्यात्व का क्रम नहीं होता।

'जड़ में मिथ्यात्व का क्रम हो तो जीव को मिथ्यात्व करना पड़ता है'—यह दलील तीव्र मिथ्यादृष्टि अज्ञानी की है, वह अजीव को ही देखता है, किन्तु जीव को नहीं देखता। जीव के स्वभाव का निर्णय करके जीव की ओर से न लेकर अजीव की दृष्टि की ओर से लेता है, वह विपरीतदृष्टि है—उसके अज्ञान की गहनता है। क्रमबद्ध के निर्णय का फल तो स्वोन्मुख होना आता है। स्वभावोन्मुख होकर ज्ञायक हुआ, उसे मिथ्यात्व नहीं होता और मिथ्यात्वकर्म का निमित्तकर्तापना भी उसके नहीं रहता; अजीव में दर्शनमोह होने का क्रम उसके लिये होता ही नहीं। इस प्रकार कर्म के साथ का निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध भी उसको छूट गया है।

आत्मा निश्चय से अजीव का कर्ता नहीं है; इसलिये कोई ऐसा कहे कि—'पुद्गल के मिथ्यात्व का निश्चय से अकर्ता किन्तु उसमें मिथ्यात्वकर्म बंधे तब जीव मिथ्यात्व करके उसका निमित्तकर्ता होता है अर्थात् व्यवहार से उसका कर्ता है।—इस प्रकार निश्चय से अकर्ता और व्यवहार से कर्ता-ऐसा हो तो ?'

—तो यह भी मिथ्यादृष्टि की ही बात है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में कर्म का निमित्तकर्तापना आता ही नहीं। मिथ्यात्वादि कर्मों का व्यवहार कर्तापना मिथ्यादृष्टि को ही लागू

होता है, ज्ञानी को वह किसी प्रकार लागू नहीं होता। यहाँ ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि करके स्वयं ज्ञायकभाव से (सम्यग्दर्शनादिरूप से) परिणमित हुआ, वहाँ निश्चित हो गया कि मेरी पर्याय में मिथ्यात्व होने की योग्यता नहीं है, और मेरे निमित्त से पुद्गल में मिथ्यात्वकर्म हो-ऐसा भी हो ही नहीं सकता—यह भी निर्णय हो गया। अहो! अंतर में ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करके क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ, अन्तरोन्मुख होकर ज्ञायक हुआ... अकर्ता हुआ, वह अब बन्धन का कर्ता हो, यह कैसे हो सकता है? नहीं ही हो सकता। ज्ञायकभाव बन्धन का कर्ता हो ही नहीं सकता। वह तो निजरस से—ज्ञायकभाव से शुद्धरूप ही परिणमित होता है—बन्धन के अकर्तारूप से ही परिणमित होता है। इस प्रकार ज्ञायक को बन्धन होता ही नहीं है। ऐसा अबन्धपना क्रमबद्धपर्याय के निर्णय का फल है। अबन्धपना कहो या मोक्षमार्ग कहो, या धर्म कहो—उसकी यह रीति है।

(९५) स्वच्छन्दी जीव इस बात के श्रवण का भी पात्र नहीं है

जीव ज्ञायकस्वभाव है; उस ज्ञायक की क्रमबद्धपर्याय में विकार के कर्तृत्व की बात नहीं आती, क्योंकि ज्ञाता के परिणमन में विकार कहाँ से आया? भाई! अपने ज्ञायकत्व का निर्णय करके पहले तू ज्ञाता हो, तो तुझे क्रमबद्धपर्याय की खबर पड़ेगी। ज्ञाता के क्रम में राग आता ही नहीं; वह ज्ञेयरूप में भले हो। वास्तव में तो राग को ज्ञेय करने की भी मुख्यता नहीं है; अन्तर में ज्ञायकस्वभाव को ही ज्ञेय बनाकर उसमें अभेद हो-उसी की मुख्यता है। ज्ञायकस्वभाव को ज्ञेय बनाये बिना, राग का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता।

क्रमबद्धपर्याय का नाम लेकर रागादि का भय न रखें, और स्वच्छन्दरूप से विषय-कषायों में वर्तें—ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवों को यहाँ बात ही नहीं है; वह तो इस बात के श्रवण का पात्र नहीं है। क्रमबद्ध की ओट लेकर स्वच्छन्दरूप से वर्ते, तो न रहा पाप का भय, और न रहा सत्य के श्रवण का भी प्रेम; इसलिये सत्य के श्रवण की भी योग्यता न हो, वहाँ ज्ञान के परिणमन की तो योग्यता ही कहाँ से हो? जो स्वच्छन्द को छुड़ाकर मोक्षमार्ग में ले जाने की बात है, उसी की ओट में जो ढिठाई से स्वच्छन्द की पुष्टि करता है, उसे आत्मा की दरकार नहीं है, भवभ्रमण का भय नहीं है।

(९६) सम्यग्दर्शन कब होता है?—तो कहते हैं पुरुषार्थ करे तब

कुछ अज्ञानी इस बात को समझे बिना ऐसा कहते हैं कि—हमें तो क्रमबद्धपर्याय में

सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें होना होंगी तो हो जायेंगी।—किन्तु उनकी बात विपरीत है, वे सिर्फ पर की ओर देखकर क्रमबद्धपर्याय की बात करते हैं, वह ठीक नहीं है। भाई रे! तू अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर का पुरुषार्थ करेगा, तभी तेरी निर्मल पर्याय होगी। क्रमबद्धपर्याय की समझ का फल तो ज्ञायकस्वभावोन्मुख होना है; जो ज्ञायकस्वभावोन्मुख हुआ है, उसके तो निर्मल पर्याय का क्रम हो ही गया है; और जिसकी उन्मुखता ज्ञायकस्वभाव की ओर नहीं है, वह वास्तव में क्रमबद्धपर्याय को जानता ही नहीं है। अन्तरोन्मुख होकर ज्ञायकस्वभाव पर जोर देते हुए भगवान ने क्रमबद्धपर्याय में जिस निर्मल पर्याय का होना देखा है, वही पर्याय आ खड़ी होती है। किसी भी जीव को ज्ञायकस्वभाव की ओर के पुरुषार्थ बिना निर्मल पर्याय होती है—ऐसा भगवान ने नहीं देखा है।

'समस्त पर्यायें क्रमबद्ध हैं, इसलिये जैसा क्रम होगा वैसी पर्यायें होती रहेंगी, अब अपने को पुरुषार्थ की कोई आवश्यकता नहीं है'—ऐसा कोई माने तो उससे कहते हैं कि भाई! ज्ञायक की ओर के पुरुषार्थ के बिना तू क्रमबद्ध का ज्ञाता कैसे हुआ? अपने ज्ञायकस्वभाव के निर्णय का प्रयत्न किये बिना क्रमबद्धपर्याय को तू किस प्रकार समझा? स्वसन्मुख होकर ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करे, उसी को क्रमबद्धपर्याय समझ में आती है और उसकी पर्याय में निर्मलता का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार, स्वसन्मुख पर्याय और क्रमबद्धपर्याय के निर्णय की सन्धि है।

(९७) क्रमबद्धपर्याय और उसका कर्तृत्व

प्रश्न : क्रमबद्धपर्याय है, उसमें कर्तृत्व है या नहीं?

उत्तर : हाँ, जिसने स्वसन्मुख होकर अपने ज्ञायकस्वभाव का निर्णय किया है, उसे अपनी निर्मल क्रमबद्धपर्याय का कर्तृत्व है; और जिसके ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं है तथा पर में कर्तृत्वबुद्धि है, उसे अपने में मिथ्यात्व आदि मलिन भावों का कर्तृत्व है।

अजीव को उस अजीव की क्रमबद्ध अवस्था का कर्तृत्व है। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करके जो जीव ज्ञायकस्वभाव की ओर ढल गया है, उसे विकार का कर्तृत्व नहीं है; वह तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल ज्ञानभाव का ही कर्ता है।

(९८) सूक्ष्म-किन्तु समझ में आ जाये ऐसा

प्रश्न : आप कहते हैं, वह बात तो बहुत सरल है; किन्तु बड़ी सूक्ष्म बात है!

उत्तर : भाई ! सूक्ष्म तो अवश्य है, किन्तु समझ में आ सके ऐसा सूक्ष्म है या न आये ऐसा ? आत्मा का स्वभाव ही सूक्ष्म (अतीन्द्रिय) है, इसलिये उसकी बात भी सूक्ष्म ही होती है। यह सूक्ष्म होने पर भी समझ में आ सके ऐसा है। आत्मा की सचमुच जिज्ञासा हो तो वह समझ में आये बिना नहीं रह सकता। वस्तुस्वरूप में जैसा हो रहा है, वही समझने को कहा जा रहा है; इसलिये सूक्ष्म लगे तो भी 'समझ में आये ऐसा है, और यह समझने में ही मेरा हित है'—ऐसा विश्वास और उल्लास लाकर अन्तर से प्रयास करना चाहिये। यह समझे बिना ज्ञान कभी सच्चा नहीं हो सकता, और सच्चे ज्ञान बिना शांति नहीं हो सकती। 'सूक्ष्म है, इसलिये मेरी समझ में नहीं आ सकता'—ऐसा नहीं मानना चाहिये, किन्तु सूक्ष्म है, इसलिये उसे समझने के लिये मुझे अपूर्व प्रयत्न करना चाहिये;—ऐसा बहुमान लाकर समझना चाहे तो वह अवश्य ही समझ में आ सकता है।

अहो ! यह तो अंतर की अध्यात्मविद्या है; इस अध्यात्मविद्या से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय किए बिना, अन्य सब बाह्य ज्ञातृत्व तो म्लेच्छविद्या समान हैं; उससे आत्मा का कुछ भी हित नहीं है।

पूर्व अनन्त काल में यह बात नहीं समझा, इसलिये सूक्ष्म है; तथापि जिज्ञासु होकर समझना चाहे तो समझ में आ सकती है। भाई ! तू उलझन में मत पड़, किन्तु अन्तर में देख; उलझन कोई मार्ग नहीं है; ज्ञानस्वभाव को लक्ष में पकड़कर अन्तर्मुख हो... वर्तमान में जो ज्ञान जानने का कार्य कर रहा है, वह किसका है ? उस ज्ञान के सहारे-सहारे अन्तर में जा और अव्यक्त चिदानन्दस्वभाव को ग्रहण कर ले... अन्तर के चैतन्यद्वार को खोल ! इस चैतन्यस्वभाव में उतरते ही सब समझ में आ जाता है, और उलझन मिट जाती है।

(९९) सच्चा विश्रामस्थल

प्रश्न : क्रमबद्धपर्याय प्रतिसमय सदैव होती ही रहती है; उसमें बीच में कहीं जरा भी विश्राम नहीं है ?

उत्तर : भाई ! यह समझ तो तेरे अनादिकालीन भवभ्रमण की थकान दूर कर दे ऐसी है ! क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति करके ज्ञायकस्वभाव की ओर एकाग्र हुआ, वही सच्चा विश्रामस्थल है।—उसमें भी प्रतिसमय पर्याय का परिणमन तो होता ही रहता है; किन्तु वह परिणमन ज्ञान और आनन्दमय है, इसलिये उसमें आकुलता या थकान नहीं है; उसमें तो परम अनाकुलता है और वही

सच्चा विश्रामस्थल है। अज्ञानी जीव ज्ञायकपने को भूलकर 'पर में यह करूँ... यह करूँ'—ऐसी मिथ्या मान्यता से आकुल-व्याकुल-दुःखी हो रहा है और भवभ्रमण में भटक रहा है। यदि वह ज्ञायकस्वभाव की और क्रमबद्धपर्याय की बात समझे तो अनन्ती आकुलता मिट जाये, अन्तरस्वभाव में ज्ञान-आनन्द के अनुभवरूप सच्चा विश्रामस्थल प्राप्त हो।

(१००) सम्यक्त्वी कहते हैं- 'श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ है'

इस क्रमबद्धपर्याय के यथार्थ निर्णय में ज्ञानस्वभाव का और केवलज्ञान का निर्णय आ जाता है। जिस प्रकार केवली भगवान परिपूर्ण ज्ञायक ही हैं, उसी प्रकार मेरा स्वभाव भी ज्ञायक ही है—ऐसा निर्णय होने पर श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ। अभी साधकदशा में अल्प ज्ञान है, तथापि वह भी ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से ज्ञातापने का ही कार्य करता है; इसलिये केवलज्ञान की श्रद्धा तो हो गई, अर्थात् श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी कहा है कि—'यद्यपि कभी वर्तमान में प्रगट रूप से केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं हुई है, किन्तु जिनके वचन के विचारयोग से शक्तियप से केवलज्ञान है-ऐसा स्पष्ट जाना है,

—ऐसा श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ है,

—विचारदशारूप से केवलज्ञान हुआ है,

—इच्छादशारूप से केवलज्ञान हुआ है,

—मुख्यनय के हेतु से केवलज्ञान वर्तता है,

—वह सर्व अव्याबाध सुख का प्रगट करनेवाला केवलज्ञान जिनके योग से सहजमात्र में जीव प्राप्त करने योग्य हुआ, उन सत्पुरुष के उपकार को सर्वोत्कृष्ट भक्ति से नमस्कार हो! नमस्कार हो!'

देखो, इतने-से कथन में कितनी गंभीरता है!

सर्व प्रथम ऐसा कहा कि—'यद्यपि कभी वर्तमान में प्रगटरूप से केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं हुई है'—इस कथन में यह बात भी गर्भितरूप से रखी है कि—वर्तमान में प्रगट नहीं है किन्तु शक्तिरूप से है; और वर्तमान में प्रगट नहीं है किन्तु भविष्य में अल्पकाल में केवलज्ञान प्रगट होना है।

* फिर कहा है कि—'जिनके वचन के विचारयोग से शक्तिरूप से केवलज्ञान है—ऐसा स्पष्ट जाना है।'—केवलज्ञान प्रगट नहीं है, तथापि वह प्रगट होने का सामर्थ्य मुझमें है—ऐसा जाना है—स्पष्ट जाना है, अर्थात् स्वसन्मुख होकर निःशंक जाना है। किसने जाना है ?-तो कहते हैं कि वर्तमान पर्याय ने जाना है। मुझमें सर्वज्ञता का सामर्थ्य है—ऐसा पहले नहीं जाना था, और अब स्वसन्मुख होकर जाना, इसलिये पर्याय में निर्मलता का क्रम प्रारम्भ हो गया।

मेरी शक्ति में केवलज्ञान है—'स्पष्ट' जाना है अर्थात् राग के अवलम्बन बिना जाना है,—स्वभाव के अवलम्बन से जाना है; स्वसंवेदन से जाना है।

* जानने में निमित्त कौन ? तो कहते हैं कि—'जिनके वचन के विचारयोग से... जाना है;' जिनके वचन अर्थात् केवली-भगवान, गणधरदेव, कुन्दकुन्दाचार्य आदि संत-मुनि और सम्यक्त्वी-इन सबके वचन उसमें आ जाते हैं। अज्ञानी की वाणी उसमें निमित्त नहीं होती; सम्यक्त्वी से लेकर केवली भगवान तक के सबकी वाणी अविरुद्ध है; जैसी केवली भगवान की वाणी है, वैसी ही सम्यक्त्वी की वाणी है; भले ही केवली भगवान की वाणी में बहुत आये और सम्यक्त्वी की वाणी में कम आये, किन्तु दोनों का अभिप्राय तो एक ही है।

और, 'जिनके वचन के विचारयोग से जाना'—इसमें 'विचारयोग' वह अपने उपादान की तैयारी बतलाता है। ज्ञानी के वचन, वह निमित्त और उन वचनों को झेलकर समझने की योग्यता अपनी—इस प्रकार उपादान-निमित्त दोनों की बात आ गई।

वर्तमानपर्याय में केवलज्ञान न होने पर भी, तेरे स्वभाव में केवलज्ञान का सामर्थ्य है—ऐसा ज्ञानी के वचन बतलाते हैं; इसलिये तुझमें जो शक्ति विद्यमान है, उसके अवलम्बन से तेरा केवलज्ञान प्रगट होगा, अन्य किसी के (निमित्त के या व्यवहार के) अवलम्बन से केवलज्ञान नहीं होगा;—ऐसा ज्ञानी बतलाते हैं, इससे विरुद्ध जो कहते हों, वे वचन ज्ञानी के नहीं हैं।

* 'यद्यपि वर्तमान में कभी प्रगटरूप से केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं हुई है, किन्तु जिनके वचन के विचारयोग से शक्तिरूप से केवलज्ञान है—ऐसा स्पष्ट जाना है'—ऐसा जानने में क्या हुआ वह अब कहते हैं:-

—'ऐसा श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ है;'

केवलज्ञान प्रगट नहीं है, तथापि उसकी श्रद्धा तो प्रगट हुई है, इसलिये श्रद्धारूप से

केवलज्ञान हुआ है। देखो, अज्ञानी तो कहते हैं कि—'भव्य-अभव्य का निर्णय अपने से नहीं हो सकता, वह केवली जानें,' तब यहाँ तो कहते हैं कि केवलज्ञान का निर्णय हो गया है, श्रद्धा में केवलज्ञान हो गया है। जिसमें से केवलज्ञान प्रगट होना है—ऐसा अखंड ज्ञायकस्वभाव जहाँ प्रतीति में आ गया, वहाँ श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ है।

* 'श्रद्धा' की बात की, अब ज्ञान-चारित्र की बात करते हैं।

—'विचारदशारूप से केवलज्ञान हुआ है,'

—'इच्छादशारूप से केवलज्ञान हुआ है,'

विचारदशारूप से केवलज्ञान हुआ है, इसलिये केवलज्ञान कैसा होता है, वह ज्ञान में आ गया है-सर्वज्ञता का निर्णय हो गया है। तथा इच्छादशारूप से केवलज्ञान हुआ है अर्थात् भावना केवलज्ञान की ही वर्त रही है, राग की या व्यवहार की भावना नहीं है; किन्तु केवलज्ञान की ही भावना है

* इतनी बात तो केवलज्ञान पर्याय की कही, किन्तु केवलज्ञान प्रगट कहाँ से होगा-वह बात भी साथ में बतलाते हैं।

'मुख्यनय के हेतु से केवलज्ञान वर्तता है'

निश्चयनय अर्थात् मुख्यनय। अध्यात्म में मुख्यनय तो निश्चयनय ही है। उस निश्चय में वर्तमान में ही शक्तिरूप से केवलज्ञान वर्त रहा है।

शक्तिरूप से केवलज्ञान तो सभी जीवों के है, किन्तु ऐसा कहता कौन है ?—कि जिसे उस शक्ति की प्रतीति हुई है वह। इसलिये श्रद्धा तो प्रगट हुई है।

—इस प्रकार इसमें जैनशासन भर दिया है। शक्ति क्या है, व्यक्ति क्या है, शक्ति की प्रतीति क्या है, केवलज्ञान क्या है,—यह सब इसमें आ जाता है।

* अहो, सम्यग्दर्शन होने पर सम्यक्त्वी कहता है कि—'श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ,' यहाँ ज्ञायकोन्मुख होकर क्रमबद्धपर्याय निर्णय किया, उसमें भी श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ... प्रतीति तो वर्तमान में प्रगट हुई है। जिस प्रकार केवलीभगवान ज्ञायकत्व का ही काम करते हैं, उसी प्रकार मेरा स्वभाव भी ज्ञायक है, मेरा ज्ञान भी ज्ञायकोन्मुख रहकर ज्ञातृत्व का ही कार्य करता

है—ऐसी सम्यक्त्वी को प्रतीति हुई है—इस प्रकार श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ है।

* सर्वज्ञस्वभाव के अवलम्बन से ऐसी श्रद्धा होने पर, जीव केवलज्ञान प्राप्त करने योग्य हुआ। उसके उल्लास में भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हुए कहते हैं कि अहो! सर्व अव्याबाध सुख प्रगट करनेवाला ऐसा केवलज्ञान जिनके योग से सहजमात्र में जीव प्राप्त करनेयोग्य हुआ उन सत्पुरुष के उपकार को सर्वोत्कृष्ट भक्ति से नमस्कार हो.... नमस्कार हो.....!

(१०१) 'केवलज्ञान की खड़ी' के तेरह प्रवचन.... और केवलज्ञान के साथ संधिपूर्वक उनका अंतमंगल

—इस क्रमबद्धपर्याय पर पहली बार के 'आठ' और दूसरी बार के 'पाँच'—इस प्रकार कुल तेरह प्रवचन हुए। तेरहवाँ गुणस्थान केवलज्ञान का है और ज्ञायकोन्मुख होकर इस क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करना, वह 'केवलज्ञान की खड़ी' है; उसका फल केवलज्ञान है। जो इसका निर्णय करे, उसे क्रमबद्धपर्याय में अल्पकाल में केवलज्ञान हुए बिना नहीं रहेगा। इस क्रमबद्ध का निर्णय करनेवाला 'केवली भगवान का पुत्र' हुआ, प्रतीतिरूप से केवलज्ञान प्रगट हुआ, उसे अब विशेष भव नहीं हो सकते। ज्ञायकस्वभाव सन्मुख होकर यह निर्णय करने से अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, और फिर निर्मल क्रमबद्धपर्यायें होने पर अनुक्रम से चारित्रदशा और केवलज्ञान होता है।

—इस प्रकार केवलज्ञान के साथ संधिपूर्वक ज्ञायकस्वभाव और क्रमबद्धपर्याय का अलौकिक रहस्य प्रगट करनेवाला यह विषय पूर्ण होता है। ●●

केवलज्ञान के साथ क्रमबद्धपर्याय की

सन्धि करानेवाले

यह तेरह प्रवचन

जयवन्त प्रवर्तमान हो.....

ज्ञायकस्वभाव और क्रमबद्धपर्याय का अलौकिक

रहस्य समझाकर,

केवलज्ञान को प्रकाशित करनेवाले

श्री कहान गुरुदेव की जय हो.....

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक
प्रवचनों का अपूर्व लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों की—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार प्रवचन भाग १	६)	मूल में भूल	।।।)
समयसार प्रवचन भाग २	५)	मुक्ति का मार्ग	।।=)
समयसार प्रवचन भाग ३	४॥)	अनुभवप्रकाश	॥)
समयसार (हिंदी)		अष्टपाहुड़	३)
(मूल संस्कृत टीका सहित)	१०)	चिद्विलास	१=)
प्रवचनसार हिंदी		दसलक्षणधर्म	।।।)
(मूल संस्कृत टीका सहित)	५)	जैन बालपोथी	।)
आत्मावलोकन	१)	लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका	।) ।।
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें	१ ।=)	सम्यक्दर्शन	२)
द्वादशानुप्रेक्षा	२)	स्तोत्रत्रयी	।=)
अध्यात्मपाठसंग्रह	५॥)	भेदविज्ञानसार	२)
समयसार पद्यानुवाद	।)	पंचमेरु पूजन	।।।)
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=) ॥		
'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक मूल्य	३)		

आत्मधर्म फाइलें
१-२-३-५-६-७ वर्ष — प्रत्येक का ३॥)

कुल फाईलों का मूल्य २२॥) होता है लेकिन
एक साथ लेने पर १७॥)

(डाकव्यय अतिरिक्त)

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभ-विद्यानगर
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये—जमनादास माणेकचंद रवाणी